॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कल्याण

वर्ष ५१

अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, जून १९७७

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भगवान् कार्त्तिकेय

[पृष्ठ-सं० ७२]
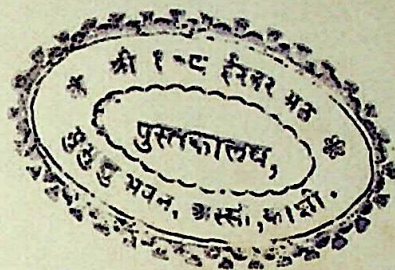
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेदा येन समुद्धृता वसुमती पृष्ठे धृताभ्युद्धृता दैत्येशो नखरैर्हतः फणिपतेर्लोकं बलिः प्रापितः ।
क्ष्माऽक्षत्रा जगती दशास्यरहिता माता कृता रोहिणी हिंसा दोषवती धराप्ययवना पायात् स नारायणः ॥

वर्ष ५१ } गोरखपुर, सौर अषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, जून १९७७ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ६०७

भगवान् कार्तिकेयको नमस्कार

सिन्दूरारुणकान्तिमिन्दुवदनं केयूरहारादिभि-
र्दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं स्वर्गस्य सौख्यप्रदम् ।
वरमुद्राभयशक्तिकुक्कुटधरं रक्ताङ्गरागांशुकं
सुब्रह्मण्यमुपास्महे प्रणमतां भीतिप्रणाशोद्यतम् ॥

(शारदातिलक १३ । १२१)

'जिनके शरीरकी कान्ति सिन्दूरके सदृश लाल वर्णकी है और जिनका मुख चन्द्रमाके समान आह्लादक है, जिनका श्रीविग्रह केयूर, हार आदि दिव्य आभरणोंसे अलंकृत है तथा जो स्वर्गीय सुखको प्रदान करनेवाले हैं, जिनके हाथोंमें वरदमुद्रा, अभयमुद्रा, शक्ति तथा कुक्कुट सुशोभित हो रहे हैं; जिनका वस्त्र रक्तवर्णका है और जो प्रणाम करनेवालोंके भयको दूर करनेमें उद्यत हैं, उन भगवान् कार्तिकेयकी हम उपासना—वन्दना करते हैं।

कल्याण

विश्वास करो—परमात्मा है, सर्वत्र है, सबमें ओत-प्रोत है। विश्वास करो, वह परम दयालु है, हम कैसे भी क्यों न हों, वह सदा हमारा हित ही किया करता है। विश्वास करो, तुम उसे बड़े प्यारे हो, उसके अपने हो, उसीके स्वरूप हो। चाह करनेपर इस बातको प्रत्यक्ष कर सकते हो, वह तुमसे मिल सकता है। तुम उसे जान सकते हो, देख सकते हो और उसमें समा सकते हो।

× × × ×

तुम दीन-हीन भी नहीं हो, तुम शुद्ध-बुद्ध हो। तुम अमृत हो, तुम महान् हो, तुम्हारे अंदर परमात्माकी शक्ति भरी है, तुम चाहो तो सब कुछ कर सकते हो, दूसरी सृष्टि रचनेवाले विश्वामित्र, मुर्देको जिलानेवाले शुक्राचार्य, पत्थरमेंसे प्रत्यक्ष सशरीर भगवान्को प्रकट करानेवाले प्रह्लाद और माखन दिखा-दिखाकर आँगनमें कन्हैयाको नचानेवाली गोपियोंमें और तुममें वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं है। तुम भगवान्को उतने ही प्यारे हो, जितने वे सब थे, तुम्हें इस बातका विश्वास नहीं है, यही कमी है। दृढ़ विश्वास करो और भगवान्के वैसे ही प्यारको प्रत्यक्ष पाकर परम सुखी हो जाओ। स्मरण रक्खो, आत्मविश्वास ही सफलताकी कुंजी है, विजयका मूल मन्त्र है और परमात्माकी कृपाको खींचनेवाला चुम्बक है।

× × × ×

स्मरण रखो—जगत्में ऐसी कोई चीज नहीं, ऐसा कोई स्थान नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं, ऐसी कोई स्थिति नहीं—जिसे तुम नहीं पा सकते। आत्मशक्तिपर विश्वास करो—दृढ़ विश्वास करो, अडिग निश्चय करो; फिर देखो, सफलता तुम्हारे चरणोंपर लोटती है; तुम्हारे मनकी चीजें तुम्हारे पास आनेमें ही अपने जीवनको सफल समझती हैं। तुम्हारी आत्मशक्तिके आगे कुछ भी असम्भव नहीं है।

× × × ×

ध्यान रखो—तुम प्रभुके परम प्रिय हो, प्रभु सदा तुम्हारे साथ हैं, तुम सदा उनकी गोदमें हो, तुमपर उनकी इतनी अपार कृपा है कि जितनी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। उनका अभय हस्त सदा ही तुम्हारे मस्तकपर फिर रहा है, वे सदा ही तुम्हारी रक्षा करते हैं। विश्वासकी कमीसे ही तुम इस सच्ची स्थितिसे वञ्चित हो रहे हो, विश्वास करो और निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाओ।

× × × ×

विश्वास करो—एक ऐसी स्थिति है, जिसमें अज्ञान, मोह, आसक्ति, दुःख, अशान्ति, स्वार्थ, शोक, द्वेष, मोह, वैर, विषाद, विषमता, मेरे-तेरेकी कल्पना भी नहीं है। जहाँ पूर्ण ज्ञान है, पूर्ण प्रेम है, पूर्ण शान्ति है, पूर्ण समता है, पूर्ण प्रकाश है और पूर्ण आनन्द है, वह स्थिति तुम्हें अवश्य मिल सकती है, तुम वही बन सकते हो।

—श्रीभाईजी

मुक्ति कैसे प्राप्त हो ?

(पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश)

सभी धर्मशास्त्र तथा सन्त-महात्मा बार-बार यह बतलाते हैं कि बिना भगवच्छरणागतिके किसी जीवकी सद्गति नहीं होती । संसारके सभी तापोंसे छूटनेके लिये परमात्माकी उपासना और उनकी शरणागति आवश्यक है । उपासनाका सरल अर्थ 'उप' यानी समीप और 'आसना' अर्थात् बैठना है । इस प्रकार उपासनाका अर्थ हुआ—भगवान्के समीप बैठना ।

यह सरल अर्थ सबकी समझमें आ जाता है, लेकिन कठिनाई इसके करनेमें है । काम, मोह, लोभादिमें पड़कर मनुष्य ईश्वरका स्मरण भूल जाता है । यही सभी समझते हैं कि हमारे कर्मोंमें मनका योग होना ही कर्मकी सफलता है । यदि मनका योग न हो तो प्रत्येक कार्य असफल हो जाता है । सही बात यह है कि मनमें जैसी भावना होती है, कार्य भी तदनुकूल ही होता है । अतएव पाप-पुण्यका कारण मन ही है । मन चञ्चल होता है, इसपर अङ्कुश रखना एक कठिन काम है । मनको वशमें करना एक अनुष्ठेय साधन है । ऐसे तो कर्मका भाव सभी प्रकारके कर्मोंसे है, जिनमें मनका सहयोग हो । पर यहाँ इसका भाव उस कर्मसे है, जिसमें भगवान्की उपासना और उनकी शरणागति होती रहे और हमें अन्ततः सद्गति प्राप्त हो । इस विषयमें भगवान् श्रीकृष्णका जो उपदेश भगवद्गीतामें है, वह अभ्यास करने योग्य है—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ६ । १२)

'अपने चित्तको एकाग्रकर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको नियन्त्रितकर आसन लगाकर आत्म-शोधनके विचारसे योगका अभ्यास करना चाहिये ।' आत्मशोधनका भाव है—अपने अंदर परमात्माकी विद्यमानताका अनुभव करना और उनसे योग यानी उनका चिन्तन । इस प्रकारका चिन्तन-मनन ही सम्पूर्ण साधनोंका मेरुदण्ड है । परमेश्वरकी शरण लेकर कर्म करना सात्त्विक कर्म है । इससे अन्तःकरण निर्मल बनता है । यह परमात्म-चिन्तन श्रेष्ठ प्रकारका योग है (गीता ६ । ४७) । इस प्रकारके चिन्तन, मननसे मनुष्य आत्म-आनन्दका अनुभव करने लगता है और यदि ऐसा प्रतिदिन किया जाय तो क्रमशः जीवात्मा और परमात्मामें एकता स्थापित हो जाय और इस प्रकारके सतत प्रयत्नका नाम ही अभ्यास है और इन्द्रियोंके विषयोंसे बचना ही सच्चा वैराग्य है । यदि इस प्रकार चिन्तन, मनन भी न हो सके तो परमात्माकी प्राप्तिके लिये और भी सुलभ साधन भगवान् श्रीकृष्ण बतलाते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १२ । ९)

यदि मन-चित्तकी एकाग्रता न हो सके, स्वभाव-विवश मन इधर-उधर चला जाय तो कोई परवाह नहीं, लक्ष्य भगवान्के स्मरण, चिन्तनका होना चाहिये और इस तरहका अभ्यास भी 'अभ्यासयोग' कहा गया है तथा यह अभ्यास भगवान्की प्राप्तिका उत्तम साधन है । अभ्यासका अर्थ है—मनको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगाना । इस प्रकारके ध्येयसे क्रमशः मन एकाग्र हो जाता है या होने लगता है । घबड़ाना या आरम्भ करके बीचमें छोड़ देना उचित नहीं । साथ ही इस बातपर ध्यान रखना चाहिये कि मनकी आसक्ति किसमें ज्यादा है । संगी-साथियोंपर यदि ध्यान दिया जाय और उनपर भी यदि कुछ नियन्त्रण किया जाय तो प्रायः मन भी नियन्त्रित हो जाता है । मन कैसा

बने, इसका सम्बन्ध विचारसे है और विचार कैसा हो इसका सम्बन्ध आहारसे है। आहार-विचार यदि सात्त्विक हों तो सात्त्विकका प्रभाव मनपर पड़ता है और तब मनकी साधना भी क्रमशः सरल हो जाती है। अतएव मन परमात्मामें लगे, इधर-उधर न भागे, इसके लिये अपना आहार-विहार एवं विचार सात्त्विक बनाना होगा—इसपर सदा ध्यान रखना होगा। चित्तवृत्तियोंका निरोध ही सम्पूर्ण योग है। उसमें कहा गया है—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'
(योगदर्शन १। १४)

अर्थात् अभ्यासके सदा होते रहनेसे, उसमें अन्तर न आनेसे, श्रद्धा, विश्वास और संयमसे अभ्यास दृढ़ होता है। जो अभ्यास आज किया और कल नहीं किया, या कल छोड़ दिया या जिस अभ्यासमें श्रद्धा, नियम और संयम नहीं है उस अभ्यासमें दृढ़ता नहीं आती; अभ्यास नित्य होना चाहिये। निरन्तर नियमसे साधना करते-करते यह चञ्चल मन स्थिर हो जाता है और जहाँ मन स्थिर हुआ कि परमात्माका ध्यान, स्मरण स्वतः होने लगता है। यही वास्तविक उपासना है।

अब रही परमात्माके शरणमें जानेकी बात। भक्तिका आरम्भ तो सद्भावना-पूर्वक प्रभुकी शरणमें जानेसे ही होता है। शरणागति ही निर्बल मनुष्यका बल है, भक्तिका श्रेष्ठ साधन है और दुःखी व्यक्तिका आश्रय है। यह सारा संसार नाशवान् और एक शून्यके समान है। शून्यके साथ जैसे शून्य मिलाया जाय तो वास्तवमें उसका कोई मूल्य नहीं होता, परंतु एकके अङ्कके साथ यदि शून्य मिलाया जाय तो उसका मान दसगुना हो जाता है, वैसे ही इस संसारका सारा साधन शून्यवत् समझना चाहिये और उस शून्यके साथ यदि उस 'एक' परमात्माका भाव विद्यमान रखा जाय, सदा परमात्माका स्मरण रखा जाय, उसका नाम-जप किया जाय तो उसका महत्त्व दसगुना हो जाय—

नामराम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून॥'
(दोहावली १०)

यही आस्तिक और नास्तिकमें भेद है। आस्तिक परमात्माकी शरण ग्रहण करता है और नास्तिक परमात्माकी शरणको छोड़कर संसारके मायाजालमें फँसा रहता है। प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी एडवोकेट

है न राम-सा कोई!

जय जय रघुकुल-कमल-दिवाकर।
मर्यादा-पुरुषोत्तम सद्गुण-रत्न-निचय-रत्नाकर॥
हैं सुर-वृन्द सुखित, मुनिजन हैं मुदित, मिटे दानवता।
प्रजा-पुंज है पुलकित देखे मानवेन्द्र मानवता॥
होती है न अकाल-मृत्यु अनुकूल काल है रहता।
सकल सुखोंका स्रोत सर्वदा है घर-घरमें बहता॥
किसने जन-जनके उर-भूमें कीर्ति-बेलि यों बोई।
सकल लोक-अभिराम राम हैं, है न राम-सा कोई॥

—श्रीहरिऔधजी

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पारमार्थिक प्रश्नोत्तर]

[गताङ्क पृष्ठ १४९ से आगे]

[ग]

(१) भगवान्‌पर ऐसा दृढ विश्वास होना चाहिये कि प्रभु हमारे परम सुहृद् हैं, वे जो कुछ करते हैं, वह हमें प्रतिकूल प्रतीत होनेपर भी उसमें हमारा हित भरा हुआ होता है। उनकी कृपासे जो विवेक मिला है, उसके द्वारा उनकी कृपाका अनुभव करते हुए प्राप्त सामर्थ्य और पदार्थोंका उनके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सदुपयोग करते रहें अर्थात् सब प्राणी उन्हींके हैं—ऐसा समझकर सबके हितमें उन सबका उपयोग करें, दुरुपयोग न करें अर्थात् उनके द्वारा न तो किसीका अहित करें और न सुख-भोगकी आसक्तिको ही बढ़ायें।

ऐसा करनेसे सब प्रकारकी चिन्ताओंका बड़ी सुगमतासे नाश हो सकता है। सब प्रकारके मानसिक उद्वेग शान्त होकर परमशान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। इस शान्तिके लिये खर्च कुछ भी नहीं करना पड़ता। मैंने कुछ किया है, खर्च करने योग्य कोई वस्तु या कोई जप आदिकी निधि मेरे पास है और मैं कुछ कर सकता हूँ—इस अभिमानको भी मिटा देना है।

(२) प्रभुपर निर्भर होनेसे, अन्य सबपर जो भूलसे विश्वास कर रखा है, उसे उठा देनेसे और प्रभुको अपना मान लेनेसे विश्वासमें दृढ़ता आ सकती है। निर्भयता भी उसके साथ-साथ रहती है। इन दोनोंको आप जब चाहें प्राप्त कर सकते हैं, इसमें कोई कठिनाई या पराधीनता नहीं है।

(३) भगवान्‌में परम श्रद्धा और परम प्रेम होनेपर षडक्षर राम-महामन्त्रका अजस्र धारावत् जप हो सकता है। साथमें स्वरूपका ध्यान, संसारमें वैराग्य तथा निष्काम और गुप्तभाव सम्मिलित कर दिया जाय तो जप बहुत ही मूल्यवान् और उच्च कोटिका बन जाता है।

(४) जप-ध्यान करनेमें रोमाञ्च, अश्रुपात और आनन्द आनेका एकमात्र कारण प्रेम है।

(५) आपका बी० ए० पास करना बुरा नहीं है। पर वह प्रभुकी पूजाके लिये विद्यार्थियोंको शिक्षा देकर उनका हित करनेकी दृष्टिसे किया जाना चाहिये। यदि पद-लोलुपता या धनके लोभसे किया जाय तो साधनकी दृष्टिसे हानिकर है। अतः बी० ए० पास करनेके लिये न तो साधन भङ्ग करना चाहिये और न सामर्थ्यके बाहर खर्च ही करना चाहिये। प्राप्त योग्यताका सदुपयोग करते हुए ही पठनरूप कर्त्तव्यका पालन पूरा मन लगाकर प्रभुकी प्रसन्नताके लिये कर सकें तो करना चाहिये। कर्त्तव्य-पालन और लक्ष्य-प्राप्तिमें विरोध नहीं है। कर्त्तव्य-पालनसे ही लक्ष्यकी प्राप्ति होती है और लक्ष्य-प्राप्तिके लिये जो कुछ करना चाहिये, उसीका नाम कर्त्तव्य है। अतः मित्रोंके कथनको बुरा न मानकर उसका अर्थ साधनके अनुरूप लगाना चाहिये। दूसरोंको तुच्छ समझना और अपनेमें किसी प्रकारके गुणके अभिमानको स्थान देना—दोनों ही साधनमें विघ्न हैं।

(६) गीता-भवनके सत्सङ्गमें न आ सकें तो कोई बात नहीं। इसके लिये विचार न करके वहीं रहकर गीताप्रेसकी धार्मिक पुस्तकोंका अध्ययन करना चाहिये, यह भी सत्सङ्ग ही है।

(७) मनको भगवान्‌के समर्पण कर देनेपर, उसको अपना न माननेसे उसकी कमजोरी मिट सकती है। मिथ्या और निराधार संकल्पोंके विषयमें तो यह समझकर उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिये कि मनकी सफाई हो रही है, पुराना कूड़ा-करकट जो जन्म-जन्मान्तरसे इकट्ठा हो रहा था वह निकल रहा है। उनको महत्त्व

नहीं देना चाहिये, उनमें रस भी नहीं लेना चाहिये तथा उनसे द्वेष भी नहीं करना चाहिये ।

[घ]

वास्तवमें मनुष्य-जीवन अन्धकारसे भरा हुआ नहीं है । परम कृपालु प्रभुने मनुष्यको विवेक और बुद्धि दी है । यदि मनुष्य प्रभुकी कृपासे मिले हुए विवेकसे अपने जीवनको साधनमें लगानेके लिये तैयार हो जाय तो वह बड़ी सुगमतासे वर्तमानमें ही अपना जीवन सफल बना सकता है । उसके मार्गमें कोई भी परिस्थिति बाधा नहीं डाल सकती; क्योंकि प्राप्त वस्तु, योग्यता और परिस्थितिका सदुपयोग ही जीवनके सुधारका उपाय है । उसके लिये किसी भी अप्राप्त योग्यता, वस्तु या परिस्थितिकी आवश्यकता नहीं है । अतः साधक जब चाहे, अपना जीवन सफल बना सकता है । इसमें वह सर्वथा स्वतन्त्र है, किसी प्रकारकी भी पराधीनता नहीं है ।

श्री..................ने जो अपने लेखमें जीवन्मुक्त-स्थितितक पहुँचना अति कठिन बताया, इसका एकमात्र कारण यही है कि अज्ञानवश जबतक मनुष्य दुःखके कारणरूप भोगोंको सुख मानकर उसमें रचा-पचा रहता है, तबतक सुख-दुःखसे अतीतके जीवनकी आवश्यकताका भान नहीं होता । जो कोई उस जीवन्मुक्तिकी प्राप्तिके नामपर चेष्टा करता है, उसके अंदर भी सुख-भोगकी इच्छा छिपी रहती है, इस कारण वह प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग नहीं कर पाता और अपने विवेकके विरुद्ध चेष्टा करता रहता है । यही कारण है कि उसे सफलता नहीं मिलती, विलम्ब होता रहता है और उलझन बढ़ती जाती है ।

वास्तवमें प्रभुका विधान बड़ा ही सुन्दर है । संसार भी साधनमें बाधक नहीं है, प्रत्युत साधन-सामग्री है । ध्येयकी दूरीका कारण एकमात्र विवेककी बात न मानकर इन्द्रियोंकी दृष्टिको प्रधानता देना और उसके वशमें होकर प्राप्त परिस्थितिका दुरुपयोग करना है ।

साधक जिस विवेकके द्वारा दूसरोंकी भूलोंको देखता है, उस विवेकको उधरसे रोककर यदि अपनी भूलोंको देखनेमें और प्रभु-कृपाका आश्रय लेकर उनको दूर करनेमें लगाता रहे तो निःसंदेह बहुत ही शीघ्र उसको सफलता प्राप्त हो सकती है ।

(अप्रकाशित पत्रोंसे)

लगन लगौ

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

ललन ! तोरी लगन लगौ मन में ।
तो ही तोकों देखे यह मन छिन-छिन कन-कन में ॥
कछु न सुहाय न भाय और कछु तो विनु त्रिभुवन में ।
तेरी ही मधु-मूरति निरखै पल-पल जन-जन में ॥
चढ़्यौ रहै चितपै तव चिन्तन विरह-विकल मन में ।
छल-छल छलकत रहै निरन्तर जल इन नयनन में ॥
ए रे मेरे जीवन-धन ! तू आ जा जीवन में ।
तू-ही-तू वस रहै, और सब विलय होय छिन में ॥

पञ्चामृत

(उपनिषद्-सुधा-सार)

(२)

विधिपूर्वक अध्ययन तथा अध्यापनसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि विद्या चार प्रकारसे उपयुक्त होती है—आगमकालसे, स्वाध्यायकालसे, अध्यापनकालसे और व्यवहारकालसे। इनमें अध्ययनके अनन्तर भी आवृत्ति और अध्यापन नितान्त पालनीय हैं। व्यवहार तो अनिवार्य है ही, अतः यहाँ आचार्य उपदेश करते हैं—*'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।'* (तै० उ० १ । ११ । १)

देवकार्य (अर्चन-वन्दन) और पितृकार्य (तर्पणादि)में प्रमाद नहीं करना चाहिये—उन्हें यथाविधि सदैव करते रहना चाहिये, उनके अनुष्ठानमें कभी आलस्य न करे—*'देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।'*

[माता-पिता और आचार्यके प्रति व्यवहारकी शिक्षा—] माताको देवता माननेवाला बनो, अर्थात् माताको देवता मानकर देवोचित व्यवहार करना। *'मातृदेवो भव'* (इसी प्रकार) पिताको देवता मानना। पिताकी प्रसन्नतासे सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं—*'पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः ।'* अतः *'पितृदेवो भव ।'*

आचार्यको देवरूप समझनेवाले बनो।—*'आचार्यदेवो भव ।'*

अतिथिको देवता मानना। (अतिथिका सत्कार पुण्य देता है और अतिथिका बहिष्कार या तिरस्कार पापजनक होता है। इसलिये अतिथि-सत्कृतिका अनूठा महत्त्व है। भारतीय आर्य-संस्कृतिकी अतिथि-पूजा विश्वमें अभिनन्दनीय है।) *'अतिथिदेवो भव ।'*

सामान्योपदेश—जो अनिन्दनीय कर्म हैं, (जिन कर्मोंके करनेपर लोकनिन्दा नहीं होती) उन्हींका सेवन करना चाहिये, निन्द्य कर्मोंको कभी न करे।—*'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।'*

जो हमारे (आचार्योंके) सुचरित—सदाचार हैं, तुम्हें उन्हींकी उपासना (अनुसरण) करना चाहिये, उनसे भिन्न कर्मोंकी नहीं—*'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।'*

जो आचार्यत्वादि गुण—विशिष्ट श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उनको आसन-दानादिद्वारा (विश्राम देकर) आश्वस्त (श्रान्तिरहित) करना चाहिये। *'ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् ।'*

श्रद्धापूर्वक (दान) देना चाहिये, अश्रद्धापूर्वक नहीं। *'श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् ।'*

अपने ऐश्वर्यके अनुसार (विभवानुरूप) दान देना चाहिये। (यथाशक्ति दानकी महिमा है।)—*'श्रिया देयम् ।'*

लज्जापूर्वक (लजाकर भी) दान देना चाहिये—*'ह्रिया देयम् ।'* भयसे (कृपणताके लोकापवादके भयसे) भी दान देना चाहिये। *'भिया देयम् ।'*

संवित् अर्थात् मैत्री आदिके कार्य-हेतु भी—शास्त्रोक्त दान देना चाहिये। [वदान्य (दानी)के भावोंमें दैन्यापहरणकी भावना होती है, जो प्रभुप्रीति देती है। अतः चाहे जिस किसी रूपमें दान देना ही चाहिये। ध्यान रहे—*'दियो वृथा नहिं जात ।'* दानका फल होता ही है—और उत्तम होता है।]

साधकोंकी मनःसाधना

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

साधकका अपने साधनमें सद्भाव और प्रीति होनी चाहिये। चित्तकी अशुद्धिके अनेक कारणोंमेंसे निर्दोष स्थितिमें अपनेको दोषी मानना भी एक कारण है। मनकी और बालककी एक-सी दशा होती है। अतः साधकको मनके साथ बच्चोंका-सा व्यवहार करना चाहिये। बालकके मनकी सब बात पूरी करनेसे भी उसका हित नहीं होता और पूरी न करनेकी कहनेसे भी उसका सुधार नहीं होता। जो बात उसके हितकी हो, पूरी की जा सके, उसे पूरी कर दो और जो पूरी करने योग्य न हो, उसको भुला देनेके लिये कोई ऐसी दूसरी वस्तु उसको दे दो, जो उसके लिये हितकर भी हो और रुचिकर भी। ऐसा करनेसे बालकका सुधार सुगमतासे हो सकेगा। उसको डराने-धमकानेसे, लालच देनेसे या उसको सदैव बेवकूफ कहते रहनेसे उसका सुधार नहीं होगा। वह भयभीत, लालची और बेवकूफ बन जायगा; कभी बुद्धिमान् न बनेगा। यही बात मनके लिये समझनी चाहिये।

मनको डराकर, धमकाकर दबाना नहीं चाहिये। उसकी जो इच्छा पूरी करनेके लायक हो, उसे पूरी कर देना चाहिये। जो पूरी करनेके लायक न हो, उसको भूलमें डालकर या समझाकर मिटा देना चाहिये। बदलेमें कोई अच्छी रुचिकर वस्तु उसके सामने रखकर उसमें मनको लगा देना चाहिये। हर समय उसे दोषी न समझकर उसको अच्छाई दिखाते रहना चाहिये।

मनका अपना बल नहीं है, वह हमारा ही सहारा पाकर बलवान् होता है और हमसे ही लड़ने लगता है तथा अपनी चाह पूरी कराता है। अतः साधकको चाहिये कि मनको अपने साथ मिलाकर उसे सत्ता न दे, अपनेको उससे अलग रखकर बालककी भाँति उसका सुधार करे। मनके साथ तद्रूप हो जानेके कारण ही मनुष्य दोषोंको जानकर भी मिटा नहीं सकता। मनमें दोष आते और जाते रहते हैं। वह सदैव दोषी नहीं रहता। दोष प्राणीका स्वभाव नहीं है। इसलिये वह सदैव नहीं रह सकता। उसका उदय और अस्त अवश्य होता है। निर्दोषताके साथ प्राणीकी जातीय एकता है, अतः वह हर समय निर्दोषी रह सकता है। प्रकृतिका स्वभाव दोषोंको मिटाकर प्राणीको शुद्ध बनाते रहना है। इसलिये प्रकृति किसीको नीचे नहीं गिराती। प्राणी स्वयं ही दोषोंका पोषण करके उनको बलवान् बना देता है। दोषके कारणको मिटा देनेसे वह सुगमतासे मिट सकता है। देहमें 'मैं-भाव' और भोगोंकी चाह, यही दोषोंकी उत्पत्तिका कारण है।

अतः साधकको चाहिये, जब दोष उत्पन्न हो, उस समय मनको दोषी समझे, दोषके निवृत्तिकालमें उसको दोषी न समझे। उसको हर समय दोषी समझनेसे वह निर्दोष नहीं हो पाता, दोषी बना रहता है। निर्दोषताकी स्थापनासे दोष अपने-आप मिट जाते हैं; क्योंकि निर्दोषता प्राणीका स्वभाव और जीवनकी आवश्यकता है।

जैसे शरीरका नीरोग रहना स्वाभाविक है, अतः वह सदैव नीरोग रह सकता है। बीमारी सदैव नहीं रहती, आती और चली जाती है। इसी प्रकार दोष भी सदैव नहीं रहते, आते हैं और चले जाते हैं। इनको मिटा देना कठिन नहीं है।

अतः साधकको चाहिये कि दोषकालमें अपनेको दोषी माने और उस समय दोषको देखकर भविष्यमें उत्पन्न न होने देनेका दृढ़ संकल्प करे। साधकको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि दोष उत्पन्न

होनेके पहले मुझमें दोष नहीं था और मिट जानेके बाद भी नहीं रहेगा। अतः मैं स्वभावसे निर्दोष हूँ। फिर मुझमें दोष कैसे आ सकते हैं ? इस प्रकार निर्दोषकालमें निर्दोषताकी दृढ़ भावना करनेसे दोष मिट जाते हैं और उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती।

झूठ न बोलनेके कालमें सभी सत्यवादी होते हैं। झूठ बोलना समाप्त होते ही फिर सत्यवादी हो जाते हैं। हर समय कोई मिथ्यावादी नहीं रहता, इसी प्रकार हरेक दोषके विषयमें समझ लेना चाहिये।

यदि कोई कहे कि इससे तो अभिमान बढ़ेगा तो वास्तवमें ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जो चीज अपने द्वारा की जाती है, उसीका अभिमान होता है। स्वाभाविकताका अभिमान नहीं होता, इसपर भी मानो अभिमान हो तो भी 'मैं दोषी हूँ', इस अभिमानसे तो निर्दोषीपनका अभिमान अच्छा ही है।

मनुष्य सोचने लगता है कि भगवान्‌को प्राप्त करना बड़ा कठिन है, यह भूल है; क्योंकि भगवान्‌से हमारी देश-कालकी दूरी नहीं है। वह हमारी ही जातिका है और हमें अपने जीवनमें उसको प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है। भोगोंकी प्राप्ति अवश्य कठिन है; क्योंकि उसमें हम सर्वथा पराधीन हैं, उनसे हमारी किसी प्रकार भी एकता नहीं है।

यह ईश्वरीय विधान है कि जो चीज अत्यन्त आवश्यक होती है, वह उतनी ही सुगमतासे मिलती है और जो वस्तु अधिक आवश्यक नहीं होती, वह कठिनतासे मिलती है। जैसे जवाहरातकी मनुष्यको बहुत ही कम जरूरत है, अतः वह बड़ी कठिनतासे किसी-किसीको मिलता है और उसकी कीमत भी बहुत अधिक चुकानी पड़ती है तथा उसकी कीमत ठीक-ठीक आँकी भी नहीं जाती। उससे कुछ अधिक जरूरत स्वर्णकी है। उसके मिलनेमें जवाहरातकी अपेक्षा कम कठिनाई है। उसकी कीमत भी समयके अनुसार निश्चित रहती है। उससे अधिक जरूरत चाँदीकी है। वह सुवर्णकी अपेक्षा सस्ती और सुगमतासे मिलती है। उससे अधिक अपेक्षा खाद्य पदार्थोंकी है। अतः वे चाँदीसे सस्ते और सुगमतासे मिलते हैं। उससे भी अधिक आवश्यकता जलकी है। उसके बिना प्राणी जी नहीं सकता। अतः अन्नकी अपेक्षा जल बहुत सुगमतासे मिलता है। जलसे भी अधिक आवश्यक सूर्यका तेज और हवा है। वे अपने स्थानपर अपने-आप मिलते रहते हैं। उनसे अत्यन्त आवश्यक आकाश है। वह पाञ्चभौतिक शरीरसे कभी अलग नहीं होता। सूर्यकी रोशनी और गरमीके लिये तथा वायु और आकाशके लिये किसीको भी कोई मूल्य नहीं देना पड़ता। इन सबसे अधिक आवश्यक जीवके लिये भगवान् हैं और उससे किसीकी भी दूरी नहीं है। फिर भी उसके मिलनेमें कठिनताका अनुभव करना, प्रमादके सिवा और क्या हो सकता है ?

अतः साधकको विश्वास करना चाहिये कि भगवान् मुझे इसी वर्तमान जन्ममें ही अभी मिल सकते हैं। इसमें कोई कठिनता नहीं है। भगवान्‌के शरण होते ही भगवान् उसे तुरंत अपना लेते हैं। उसके अनन्त जन्मोंके दोष तुरंत मिटा देते हैं। मनुष्यके अभिमानने ही उसे बाँध रक्खा है।

'मैं शरीर हूँ', यह मानना और संसारको चाहना—यही सब दोषोंका मूल है। इनके मिटते ही सब दोष अपने-आप मिट जाते हैं। एक दोषसे दूसरे दोषका सम्बन्ध है। इसी प्रकार एक गुणसे भी दूसरे गुणका सम्बन्ध है। अतः एक दोषके मिटनेसे दूसरे सब दोष भी मिट जाते हैं तथा एक गुणको अपनानेसे दूसरे गुण भी अपने-आप आ जाते हैं।

मनुष्यमें बुराईके संस्कार रहते हैं। बुराई हर

समय नहीं रहती, वह मिट जाती है। संसारकी चाह मिटनेसे संस्कार भी अपने-आप मिट जाते हैं। वास्तवमें चाहको मिटानेमें कठिनाई नहीं है। उसे पूरी करनेमें बहुत कठिनाई है, क्योंकि संसारकी सबसे अच्छी चीज किसी एकको ही मिल सकती है। सम्पूर्ण पृथ्वीका यदि कोई सम्राट् हो तो वह एक ही हो सकता है। हिंदुस्थानका प्राइम मिनिस्टर एक ही हो सकता है। सबसे अधिक धनवान् कोई एक ही हो सकता है। चाह करनेवाले तो बहुत होते हैं, पर वह चाह किसी एककी भी सर्वथा पूरी नहीं हो पाती। अभाव रहता है और प्राप्त वस्तुके वियोगका भय चाहयुक्त व्यक्तिको सदैव बना रहता है। चाहकी पूर्तिमें प्राणी सदैव पराधीन है। इसलिये उसकी पूर्ति कठिन ही नहीं, अति दुरूह है।

किंतु चाहके त्यागमें मनुष्य सदैव स्वतन्त्र है। एक ही कालमें अनेक चाहरहित मनुष्य आनन्दसे रह सकते हैं। परंतु चाहयुक्त प्राणियोंमें एकसे दूसरेको भय रहता है। किसी चाहको लेकर तप या यज्ञादि कर्म करनेवालेसे इन्द्र भी सदैव डरता है कि कहीं यह मेरा अधिकार छीन न ले। परंतु चाहरहितको सभी चाहते हैं। सभी उससे प्यार करते हैं। किसीसे कुछ चाहनेवालेका पद-पदपर अनादर होता है। चाहरहित-का कभी कहीं अनादर नहीं होता। सभी उसका आदर करते हैं। उसको भगवान्की कृपा और जगत्का आशीर्वाद अपने-आप मिलता रहता है। अतः साधकको चाहिये कि भगवान्पर भरोसा करके चाहका त्याग कर दे। 'मैं शरीर हूँ', यह मिथ्या मान्यता ही चाहका कारण है। मैं शरीर नहीं हूँ, भगवान्का हूँ, यह विश्वास ही इसको मिटानेमें पूर्ण समर्थ है।

इसी प्रकार वैराग्य करना, त्याग करना और भगवान्को प्राप्त करना भी सुगम है। वे सबको सुगमतासे मिल सकते हैं। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। धन और भोग-वस्तुओंको प्राप्त करनेमें कठिनाई है। त्यागमें कोई कठिनाई नहीं है। रागका त्याग ही वैराग्य है। इसमें सभी स्वतन्त्र हैं। वैराग्यसे किसीको भय नहीं होता। अतः उसका कोई विरोधी नहीं रहता। जो कोई ईश्वरके लिये व्याकुल होता है, उसे ईश्वर तुरंत मिलते हैं। इसलिये उनका मिलना भी बड़ा सुगम है। उनकी अभिलाषामें ही प्रेम है। अतः साधकको चाहिये कि सब प्रकारकी भोगवासनाका त्याग करके भगवान्के लिये व्याकुल हो जाय और उनकी प्रसन्नताके लिये सबकी सेवामें, सबकी भलाई-में लगा रहे।

संतोंका कहना है—

'जो तोकों काँटा बुवे, ताहि बोय तू फूल।'

अतः साधकको चाहिये कि बुराईका उत्तर भलाई-से दे। जो इस मूल मन्त्रको जीवनमें ढाल लेता है, वह महान् हो जाता है। राजामें न्याय होता है और साधुमें प्रेम होता है।

बुराईके बदले बुराई न करना—यह मनुष्यता है। बुराईके बदले भलाई करना—यह साधुता है। दुःखसे मनुष्यका चित्त शुद्ध होता है। जो सच्चा दुःखी होता है, वह बड़ा सेवक होता है।

क्रोधसे बड़ा भारी नुकसान होता है। बना-बनाया काम बिगड़ जाता है। वर्षोंसे बनाया हुआ काम एक क्षणमें क्रोधके कारण बिगड़ जाता है। अतः साधकको कभी किसीपर क्रोध नहीं करना चाहिये।

चित्त शुद्ध होनेसे सब प्रकारकी पूर्णता आ जाती है। योगीको योग, विचारशीलको बोध और विश्वासीको प्रेम अपने-आप मिल जाता है।

एक लालसा

जीवनका परम ध्येय स्थिर हो जानेपर जब उसके अतिरिक्त अन्य सभी लौकिक-पारलौकिक पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो जाता है, तब साधकके हृदयमें कुछ दैवी भावोंका विकास होता है । उसका अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक बनता जाता है । इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं । मन विषयोंसे हटकर परमात्मामें एकाग्र होता है, सुख-दुःख, शीतोष्णका सहन सहजमें ही होने लग जाता है । संसारके कार्योंसे उपरामता होने लगती है, परमात्मा और उनकी प्राप्तिके साधनोंमें तथा संत-शास्त्रोंकी वाणीमें परम श्रद्धा हो जाती है । परमात्माको छोड़कर दूसरे किसी पदार्थसे मेरी तृप्ति होगी या मुझे परम सुख मिलेगा, यह सम्भावना सर्वथा मिटकर चित्तका समाधान हो जाता है । फिर उसे एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी सारी क्रियाएँ केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही होती हैं । वह सब कुछ छोड़कर एक परमात्माको ही चाहता है—इसीका नाम मुमुक्षा या मोक्षकी लालसा है । मुमुक्षा तो इससे पहले भी जाग्रत् हो सकती है, परंतु वह प्रायः अत्यन्त तीव्र नहीं होती । ध्येयका निश्चय, सात्त्विक वैराग्य, षट्सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिके बाद जो मुमुक्षुत्व होता है, वही अत्यन्त तीव्र होता है । भगवान् श्रीशंकराचार्यने मुमुक्षुत्वके तीव्र, मध्यम, मन्द और अतिमन्द—ये चार भेद बतलाये हैं । आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे त्रिविध* होनेपर भी प्रकार-भेदसे अनेक रूप दुःखोंके द्वारा सर्वदा पीड़ित और व्याकुल होकर जिस अवस्थामें साधक विवेकपूर्वक परिग्रहमात्रको ही अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, उसीको तीव्र मुमुक्षा कहते हैं । त्रिविध तापका अनुभव करने और सत्-परमार्थ वस्तुको विवेकसे जाननेके बाद, मोक्षके लिये भोगोंका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी संसारमें रहना उचित है या त्याग देना, इस प्रकारके संशयमें झूलनेको मध्यम मुमुक्षा कहते हैं । मोक्षके लिये इच्छा होनेपर भी यह समझना कि अभी बहुत समय है, इतनी शीघ्रता क्या पड़ी है, संसारके कामोंको कर लें, भोग भोग लें, आगे चलकर मुक्तिके लिये भी उपाय कर लेंगे । इस प्रकारकी बुद्धिको मन्द मुमुक्षा कहते हैं और जैसे किसी राह चलते मनुष्यको अकस्मात् रास्तेमें पड़ी हुई बहुमूल्य मणि दिखायी दी और उसने उसको उठा लिया, वैसे ही संसारके सुख-भोग भोगते-भोगते ही भाग्यवश कभी मोक्ष मिल जायगा तो मणि पानेवाले पथिककी भाँति मैं भी धन्य हो जाऊँगा—इस प्रकारकी मूढ़ मतिवालोंकी बुद्धिको अतिमन्द मुमुक्षा कहते हैं । बहुजन्मव्यापी तपस्या और श्रीभगवान्‌की उपासनाके प्रभावसे हृदयके सारे पाप नष्ट होनेसे भगवान्‌की प्राप्तिके लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है । तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर मनुष्यको इसी जीवनमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—**'यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात् स जीवन्नेव मुच्यते ।'** इस तीव्र शुभेच्छाके उदय होनेपर उसे दूसरी कोई भी बात नहीं सुहाती । जिस उपायसे उसे अपने प्यारेका मिलन सम्भव दीखता है, वह लोक-परलोक किसीकी कुछ भी परवा न कर उसी उपायमें लग जाता है । प्रिय-मिलनकी उत्कण्ठा उसे उन्मत्त बना देती है । प्रियकी प्राप्तिके लिये वह तन-मन-धन-धर्म-कर्म—सभीका उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता है । प्रियतमकी तुलनामें, उसकी

* अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग आदिसे होनेवाले दुःखोंको आध्यात्मिक; अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वज्रपात, भूकम्प, दैव-दुर्घटना आदिसे होनेवाले दुःखोंको आधिदैविक और दूसरे मनुष्यों या भूतप्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंको आधिभौतिक कहते हैं ।

दृष्टिसे सभी कुछ तुच्छ हो जाता है। वह अपने-आपको प्रिय मिलनेच्छापर न्योछावर कर डालता है। ऐसे भक्तोंका वर्णन करते हुए सत्पुरुष कहते हैं—

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी कुछ भी, दूरीको, वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता, किंचित् भी, शत-शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते, मधुर बंसरी नन्दकिशोर॥

प्रियतमके लिये तो प्राणोंको हथेलीपर लिये घूमते हैं ऐसे प्रेमी साधक। उनके प्राणोंकी सम्पूर्ण व्याकुलता, अनादिकालसे लेकर अबतककी समस्त इच्छाएँ उस एक ही प्रियतमको अपना लक्ष्य बना लेती हैं। प्रियतमको शीघ्र पानेके लिये उसके प्राण उड़ने लगते हैं। एक सज्जनने कहा है कि 'जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सारे प्रान्तके गाँवोंको बहा ले जाता है, वैसे ही विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त वेगका संचार होता है, वह सारे बन्धनोंको जोरसे तत्काल ही तोड़ डालता है।' प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी तरह उसे रोकनेमें किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी प्रबल शक्ति समर्थ नहीं होती, उस समय वह होता है अनन्तका यात्री—अनन्त परमानन्द-सिन्धु-सङ्गमनका पूर्ण प्रयासी। घर-परिवार सबका मोह छोड़कर, सब ओरसे मन मोड़कर वह कहता है—

बन बन फिरना बेहतर हमको रतन-भवन नहिं भावै है।
लता तले पड़ रहनेमें सुख नाहिंन सेज सुहावै है॥
सोना कर धर सीस भला अति तकिया ख्याल न आवै है।
'ललितकिसोरी' नाम हरीका जपि-जपि मन सचुपावै है॥
अब बिलंब जनि करो लाड़िली कृपा-दृष्टि टुक हेरो।
जमुना-पुलिन गलिन गहबरकी बिचरूँ साँझ सबेरो॥
निसिदिन निरखौं जुगल-माधुरी रसिकनते भट-भेरो।
'ललितकिसोरी' तन मन आकुल श्रीबन चहत बसेरो॥

एक नन्दनन्दन प्यारे व्रजचन्द्रकी झाँकी निरखनेके सिवा उसके मनमें फिर कोई लालसा ही नहीं रह जाती। वह अधीर होकर अपनी लालसा प्रकट करता है—

एक लालसा मनमहँ धारूँ।
बंसीवट, कालिन्दी-तट नट-नागर नित्य निहारूँ॥
मुरली-तान मनोहर सुनि सुनि तनु सुधि सकल बिसारूँ।
छिन-छिन निरखि झलक अँग-अंगनि पुलकित तन-मन वारूँ॥
रिझऊँ स्याम मनाइ, गाइ, गुन, गुंज-माल गल डारूँ।
परमानन्द भूलि सगरौ, जग स्यामहि स्याम पुकारूँ॥

बस, यही तीव्रतम लालसा है।

लगी प्रेमकी फाँस री!

जा दिन तें मुरली धुनि मेरे श्रवननि आइ समानी री।
ता दिन तें हौं भई बावरी पिय के हाथ बिकानी री॥
कछु न सुहावै, भावै मो कूँ, ना कछु घर कौ सोच री।
जस-अपजस कौ मोहि न डर कछु, भइ मति अति ही पोच री॥
रात-दिनाँ बिरमत मो मन मैं, वा मुरली कौ राग री।
हौं तो मिलि मुरलीवारे सौं पायौ सजि सुहाग री॥
सब बिधि सौं हौं भई 'अकिंचन', कछु नहिं मेरे पास री।
मोहन मुरलीधर माधो सौं लगी प्रेम की फाँस री॥

—श्रीभाईजी

श्रीमद्भगवद्गीता—प्रतिभाका एक प्रेरणास्रोत

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मीनारायणजी दुबे)

श्रीमद्भगवद्गीता मनीषियोंका सदासे एक प्रेरणा-ग्रन्थ रहा है। महात्मा गांधीने कहा था कि 'गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें जितने गहरे उतरिये, उतने ही उसमेंसे नये और सुन्दर अर्थ निकलते हैं। गीता जनसमाजके लिये है। इसलिये गीताके शब्दोंका अर्थ युग-युगमें बदलता और विस्तृत होता रहेगा। पर गीताका मूलमन्त्र कभी बदल नहीं सकता।'

गीताका एक-एक शब्द सदुपदेशसे परिपूर्ण है। उसके माहात्म्यका वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। यह एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। महर्षि वेदव्यासजीने महाभारत ६।४४।५ में लिखा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

'महाभारत'को पञ्चम वेद कहा गया है। जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। महाभारतने समस्त वेदाविरोधी मतोंको प्रामाणिक निरूपितकर वैदिक धर्मकी धवल पताका पुनः फहरायी थी। इसी महाभारतके 'भीष्मपर्व'का एक अंश गीता है, जिसमें सात सौ श्लोक हैं। गीतामें महाभारतके पर्व तथा पुराणोंकी संख्याके अनुरूप अष्टादश अध्याय हैं। प्रो० एम्० विण्टरनित्सने जर्मन-भाषामें लिखित 'प्राचीन भारतीय इतिहास'में लिखा है कि मूल भगवद्गीता काफी छोटी थी और वर्तमानरूपमें यह ग्रन्थ अनेक प्रक्षेपों तथा परिवर्धनोंसे भी युक्त है। उन्होंने उसके ग्यारहवें अध्यायको पुराणोंके सदृश बतलाया है। टाल बायज ह्वीलर युद्धकालमें ऐसे उपदेशको अस्वाभाविक बतलाते हैं। रिचार्डगार्बे(Richard Gorbey) ने शुरूकी गीताको दो सौ ईस्वी पूर्व तथा इसके वर्तमानरूपको दो सौ ईस्वीका बतलाया है। महाकवि बाण (सातवीं शताब्दी ईस्वी) को गीता महाभारतके एक अंशके रूपमें ज्ञात थी। इतिहासकार कल्हणने काश्मीरके एक नरेश राजा अवन्तिवर्मा (निधन सन् ८८३)के विषयमें लिखा था कि उसने मरते समय गीताको आद्योपान्त पढ़वाकर सुना और विष्णुके स्वर्गीय धामका ध्यान करते हुए सहर्ष अपने प्राण त्याग दिये। जहाँ पाश्चात्य इतिहासकार महाभारत तथा गीताको पर्याप्त परवर्ती-कालकी रचना मानते हैं, वहाँ करन्दीकरने महाभारतको बीस हजार वर्ष ईस्वी पूर्वकी रचना माना है।

अरबके यात्री अलबेरुनीने इस रचनाकी गरिमाको स्वीकृति देते हुए अपने 'अलबेरुनी-कालीन भारत'-में इसके अनेक श्लोक उद्धृत किये थे और इसे आध्यात्मिक दृष्टिसे उच्च कोटिकी पवित्र पुस्तक माना था। गीताने बौद्धधर्मके महायान-सम्प्रदायके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ (क) महायान श्रद्धोत्पत्ति और (ख) सद्धर्म-पुण्डरीकको गहरे रूपमें प्रभावित किया था। इनके माध्यमसे गीता चीन, जापान आदि देशोंमें गयी और वहाँके जीवन-दर्शनको उसने प्रभावित किया।

फैजीने गीताका फारसीमें अनुवाद किया था। दारा शिकोहने इसे सेरे अकबरके नामसे सम्बोधित किया था। विलकिंसने सन् १७८५में अपने अंग्रेजी अनुवादसे इससे सर्वप्रथम यूरोपके लोगोंको अवगत कराया। सन् १८२३में श्लीगेलने इसका आलोचनात्मक सम्पादन किया और साथमें उसका लैटिन अनुवाद भी किया। इसीके द्वारा ह्वौन हम्बोल्टको गीताका परिचय मिला। हम्बोल्ट इसे सन् १८२५-२६में बर्लिन अकादमीमें ले गये। वे गीताको ल्युक्रेटियस, परमेनिडस तथा एम्पेडोकल्ससे कहीं ऊँचा स्थान प्रदान करते थे। उन्होंने कहा था कि महाभारतकी यह रचना सबसे

सुन्दर अथवा यों कहें कि हमें ज्ञात सम्पूर्ण वाङ्मयमें यह एकमात्र वास्तविक दार्शनिक कविता है।

शॉपेन-हावर (Shopen Hover) तथा मेजिनीके विचारोंपर गीताका गहरा असर हुआ था। संत थोरो कहते थे किमैं प्रतिदिन भगवद्गीताके पवित्र जलमें स्नान करता हूँ। वर्तमानकाल-की कृतियोंसे यह कहीं बढ़-च ढ़कर है। अमेरीकाके प्रख्यात दार्शनिक एमर्सनने कार्लाइलको गीताकी उपहारस्वरूप दी थी। जर्मन विद्वान्, जे० डब्ल्यू० होवरने लिखा था कि गीता एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसका महत्त्व अविनाशी है। यह ऐसी गहरी अन्तर्दृष्टियों-को प्रदान करती है जो कि सब समयके लिये, सब धर्मोंके लिये और समस्त धार्मिक जीवनके लिये सत्य है। एल्डस् हक्सलेने अपना महत्त्वपूर्ण अभिमत दिया था कि 'विश्वमें जो अभीतक चिरस्थायी दर्शनशास्त्र प्रकट हुआ है, गीता उसके अत्यन्त स्पष्ट और अत्यन्त गम्भीर संक्षेपोंमेंसे है। अतः न केवल भारतीयोंके लिये, अपितु मनुष्यमात्रके लिये इसका उपयोगी चिरस्थायी महत्त्व है। भगवद्गीता चिरस्थायी दर्शनका पूर्णतया व्यवस्थित और आध्यात्मिक वर्णन है।'

गीता-भाष्यकी सहस्रों वर्षोंकी समृद्ध परम्परा है। इसमें अनेक स्थानोंपर उपनिषदोंके पूरे मन्त्र प्राप्त होते हैं। इसलिये कतिपय पाश्चात्य विद्वान्, यथा फर्कुहर एवं कीथ आदि गीताको मूलरूपमें उपनिषद् ही मानते हैं। प्राचीनकालके जो विद्वान् इसे सीधे उपनिषदोंमें परिगणित नहीं करते थे, वे इसे उपनिषदोंके ही समान आदरकी दृष्टिसे देखते थे। इसीलिये इसे उपनिषदोंका सार माना गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्॥
(गीतामाहात्म्य)

समस्त उपनिषद् मानो गायें हैं, उसके दुहनेवाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं, अर्जुन बछड़ा है। गीतारूपी महान् अमृत ही दूध है और शुद्ध बुद्धिवाला मनुष्य इसके पान करनेका अधिकारी है।

थियोसॉफिकल सोसाइटी और भगवद्गीता

७ सितम्बर, सन् १८७५को रूसी महिला हेलेना पेट्रोवना ब्लेवास्की तथा अमरीकन कालोनल आल्काटके संयुक्त प्रयाससे अमेरिकाके न्यूयार्क नगरमें थियोसाफिकल सोसाइटीकी स्थापना हुई थी, जिसकी जन्म-शताब्दी विगत वर्ष मनायी जा चुकी है।

इस सोसाइटीने श्रीकृष्णको अवतारके रूपमें ग्रहण किया था और गीताको भगवान्‌की दिव्य वाणी मानकर पाश्चात्य देशोंमें इसका बहुत अधिक प्रचार किया।

लोकमान्य तिलकका गीता-भाष्य

२ नवम्बर, सन् १९१० से ३० मार्च, १९११ के मध्य पाँच महीनेमें माण्डले-कारागृहमें रहकर लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलकने 'गीता-रहस्य' नामक विशाल ग्रन्थका निर्माण किया था। मराठीमें यह नौ सौ पृष्ठोंकी पुस्तक है। गीतामें तिलककी टीका नैतिक सत्य-का सर्वथा नवीन प्रतिपादन है। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्‌ने लिखा था कि 'तिलककी साहित्यिक कृति बेकार राजनीतिज्ञका रूढ़िगत मनबहलाव नहीं थी। साधारणतः पेशेवर राजनीतिज्ञ सफल लेखक नहीं बन पाते, किंतु तिलककी स्वाभाविक रुचि ही प्राचीन और अर्वाचीन अध्ययनकी ओर है। इसलिये उनकी कृतियोंमें नौसिखियेका सामान्य ढंग नहीं, वरन् प्रशिक्षित विद्वान्‌का ठोस ज्ञान तथा तीक्ष्ण दृष्टि मिलती है।'

गीता संसारमें ज्ञान एवं भक्तिद्वारा ईश्वरसे पूर्णतः एकात्म होनेके उपरान्त भी कर्म करनेको प्रेरित करती है। यह कर्म संसारको विकासके उस मार्गपर चलानेके लिये होना चाहिये, जो ईश्वरने नियत किया है। यह कर्मफलके प्रति किसी आसक्तिसे नहीं, वरन् संसार-

को विशिष्ट मार्गपर ले चलनेके उद्देश्यसे होना चाहिये, नहीं तो कर्ताके लिये कर्म ही बन्धन हो जायगा।

ज्ञानयोग और भक्तियोग जीवनके उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये हैं, पर ये दोनों गीताके कर्मयोगके अधीन हैं। यदि निराश अर्जुनको युद्ध करने, कर्म करनेको प्रेरित करनेके लिये गीताका उपदेश दिया गया तो यह कैसे कहा जा सकता है कि इस महान् पुस्तकका परम उद्देश्य भक्ति या ज्ञानमात्र है? वास्तवमें गीतामें इन सभी योगोंका समन्वय है।

पं० माधवराव सप्रेने सन् १९१५में तिलकजीके 'गीता-रहस्य'का मराठीसे हिंदीमें अनुवाद कार्य प्रारम्भ किया। साथ ही उन्होंने अनेक मौलिक लेख भी 'सरस्वती' आदि पत्र-पत्रिकाओंमें लिखे। सन् १९१६में गीता-रहस्यका हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुआ। सप्रेजीको एक सफल अनुवादकके रूपमें ख्याति मिली। इस अनुवादकी प्रशंसा स्वयं तिलकजीने की थी।

महर्षि अरविंदका गीताभाष्य

महायोगी अरविन्दकी महत्त्वपूर्ण कृति 'एसेज आन दी गीता' उनकी सन् १९१४ में पाण्डिचेरीसे प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी मासिकी 'आर्य'में धारावाहिकरूपमें प्रकाशित हुई थी। इसके पूर्व उन्होंने सन् १९०९ में कारागृह-मुक्तिके पश्चात् 'धर्म' नामक बंगला साप्ताहिक पत्रमें गीताकी सरल धारावाहिक व्याख्या लेखमालाके रूपमें प्रकाशित की थी, जो कि बादमें 'गीता-भूमिका'के नामसे बंगलामें पुस्तकाकार प्रकाशित हुई जिसका हिन्दीमें भी अनुवाद हो चुका है। महान् दार्शनिक अरविन्दके गीता-भाष्यको अमरीकाके कतिपय विश्वविद्यालयोंने पाठ्य-ग्रन्थके रूपमें निर्धारित किया और यूरोप तथा अमरीका आदि देशोंमें पर्याप्त संख्यामें विचारशील विद्वान् उससे प्रभावित हुए। अरविन्दने कहा था कि 'गीता जगत्की श्रेष्ठ धर्म-पुस्तक है। गीता असंख्य रत्नोंको उत्पन्न करनेवाला अथाह समुद्र है। गीता एक योगका ग्रन्थ है। वह योग जिन दार्शनिक सिद्धान्तोंके आधारपर प्रतिष्ठित है, वे सांख्ययोग तथा वेदान्तके समन्वयजनित हैं।'

गीता और महात्मा गांधी

गांधीजीने दिनाङ्क ११-११-१९३० तथा २१-२-१९३२के मध्य कारागृहमें 'गीता-बोध' या 'अनासक्ति योग' लिखा था। गांधीजीने गीता-माताके विषयमें लिखा था—'गीता शास्त्रोंका दोहन है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सारे उपनिषदोंका निचोड़ उसके सात सौ श्लोकोंमें आ जाता है। इसलिये मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीताका ज्ञान प्राप्त कर लूँ। आज गीता मेरे लिये केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिये वह माता हो गयी है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गयी, पर संकटके समय गीतामाताके पास जाना मैं सीख गया हूँ। मैंने देखा है कि जो कोई इस माताकी शरण जाता है, उसे ज्ञानामृतसे वह तृप्त करती है।'

शास्त्रका वचन है—

'सकृद् गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्।'

अर्थात् एक बार भी गीता-जलमें स्नान कर लेनेपर संसारका मल नष्ट हो जाता है। इसीलिये कहा गया है कि **'सर्वशास्त्रमयी गीता'** (गीता सभी शास्त्रोंका निचोड़ है।) इसमें भारतीय प्रतिभाका उत्कृष्ट फल प्रतिफलित होता है।

प्रेरणास्रोत—

गीतापर शताधिक भाष्य मिलते हैं। उनमें पृथक्-पृथक् दृष्टिकी प्रधानता है। सर्वश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, संत ज्ञानेश्वर, तिलक, गांधीजी, पं० रविशंकरजी शुक्ल आदिने उसके विषयका प्रतिपादन किया है और प्रेरणा प्राप्त की है। शंकर उसमें ब्रह्मात्मैक्यकी प्रधानता बताते हुए ज्ञानमार्ग तथा संन्यास-मार्गकी प्रामाणिकताको महत्त्व

देते हैं। ज्ञानेश्वरने भक्तिमार्गको स्वीकार किया। जहाँ तिलक तथा शुक्लआदिने उसे कर्मयोगका शास्त्र माना, वहाँ अरविन्दने उसे ज्ञानप्राप्तिका स्रोत स्वीकार किया और गांधीजीने अनासक्तियोगको प्रमुखता दी।

लोकमान्य 'तिलक'ने कहा था कि 'गीता एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड-ज्ञानसहित आत्म-विद्याके गूढ़ और पवित्र तत्त्वोंको थोड़ेमें और स्पष्ट रीतिसे समझा देनेवाला, उन्हीं तत्त्वोंके आधारपर मनुष्यमात्रके पुरुषार्थकी अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी पहिचान करा देनेवाला, भक्ति और ज्ञानके मेलको कराकर इन दोनोंका शास्त्रोक्त व्यवहारके साथ संयोग करा देनेवाला और इसके द्वारा संसारसे दुःखित मनुष्यको शान्ति देकर उसे निष्काम कर्तव्यके आचरणमें लगानेवाला गीताके समान बाल-बोध-ग्रन्थ, संस्कृतकी कौन कहे, समस्त संसारके साहित्यमें नहीं मिल सकता।'

स्वरूप-बोध

(रचयिता—श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवन)

जबसे भूले निज स्वरूपको,
तबसे ही है दुःख अपार।
निज स्वरूपका बोध न जबतक,
तबतक ही दुःखका विस्तार ॥ १ ॥

ईश्वर तो है चेतन व्यापक,
सत्-चित्-घन आनन्द-राशि।
अशुद्ध अचेतन दृश्य जगत् यह,
पर-प्रकाश्य अति दुःखराशि ॥ २ ॥

ईश्वरका ही अंश आत्मा,
चेतन अमर सदा सुखधाम।
देह जगत्का अंश विनाशी,
असत् अचेतन नित दुःखधाम ॥ ३ ॥

व्योम है जैसे भिन्न मेघसे,
असङ्ग एकरस और महान्।
वैसे देहसे भिन्न आत्मा,
कहते बुधजन इसको ज्ञान ॥ ४ ॥

'मैं हूँ प्रभुका प्रभु हैं मेरे,'
होता जब यह दृढ़ विश्वास।
चिन्ता दुःख अशान्ति मिटती·
हो जाता प्रभुका चिरवास ॥ ५ ॥

साधु चरित सुभ चरित कपासू

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'माका जीवन तो कपासका जीवन है बेटा !'

बात है—पिछले चुनावके दिनोंकी ।

एक महिला प्रत्याशीपर उनके निर्वाचन क्षेत्रमें किसीने जैसे ही एक अनर्गल व्यङ्ग्य किया, वैसे ही उसने बड़े प्रेमसे उत्तर दिया—'मा'का जीवन तो कपास जैसा है, बेटा ! तू कुछ भी कह । मेरे लिए तो तू बेटेके ही समान है । बेटेके लिए मा कौन-सा दुःख नहीं झेलती ? कौन-सी तकलीफ नहीं बर्दाश्त करती ? कपास ओढ़ी जाती है, धुनी जाती है, काती जाती है, बुनी जाती है । इतना कष्ट सहकर वह करती क्या है ? वह ढँकती है हमारी इज्जत । मा भी इसी तरह बेटेके लिये लाख मुसीबतें झेलकर बेटेकी लाखों नालायकियाँ बर्दाश्त करती है । बेटेकी गालियाँ भी माके लिए प्यारके फूल हैं !'

और यह क्या हुआ ?

गाली देनेवाला वह व्यक्ति आकर गिर पड़ा उस महिलाके चरणोंपर । लगा आँसुओंसे उसके पैर धोने—'माफ कर दे मा, बड़ी गलती हुई मुझसे । मैं नहीं जानता था कि तू इतने आला दिलवाली मा है ।' 'बेटेके लाख कसूर माफ हैं । तूने कहा ही क्या है, बेटे ?'

× × × ×

कपास !

कैसा शुभ्र चरित्र होता है, कपासका ।

कपासके खेतकी शोभा उस समय देखिये जब उसमें कपास फूली हो । अनोखी बहार रहती है; अद्भुत ।

बचपनमें—सन् पचीसके आसपास—जब कभी कपास चुनने जाता था तो गद्गद हो जाता था । कपासके फूले खेतको देखकर । हरे-हरे पौधेमें खिली हुई कपासकी शुभ्र डोंडियाँ । गलत थोड़े ही कहा था, तुलसीदासजीने—

साधु चरित सुभ चरित कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
(मानस १ । १ । ३)

साधुका चरित होता है—कपासकी तरह—नीरस, विशद और गुणमय । कपासकी डोंडी नीरस । विशद, श्वेत, उज्ज्वल कपास खिली रहती है उसमें । कपास होती है गुणमय, तंतुमय । तभी तो उस तंतुसे, डोरेसे वस्त्र बनता है । और तब ? कपाससे बना हुआ, कता-बुना हुआ वस्त्र ढँकता है हमारी लज्जाको । कितने कष्ट उठाती है कपास, कपड़ा बननेतक । तब कहीं वह—'सहि दुख पर छिद्र दुरावा ।' होती है । साधु भी इसी तरह पराये छिद्रोंको, पराये दोषोंको ढँकता है, भले ही इसके लिए उसे लाख कष्ट उठाने पड़े । कैसा उज्ज्वल, शुभ्र, विशद जीवन है कपासका ! वैसा ही उज्ज्वल, शुभ्र, विशद, गुणमय जीवन है साधुका, संतका, सज्जनका और वैसा ही त्याग तपस्यामय जीवन है माका ।

× × ×

नीरसताकी बात लीजिये !

'पिताजी इतने प्रेममय और आप इतने रूखे !' 'सेठ जमनालाल बजाजने उलाहना दिया, विनोबाको । यह उस समयकी बात है, जब विनोबा बापूके साबरमती आश्रममें रहते थे—प्रखर और रूखे । सेठजी हालमें ही लौटे थे, विनोबाके पिताजीसे मिलकर । हुआ यह कि सेठजीके आनेकी सूचना मिलते ही विनोबाके पिताजी पहुँचे एक मारवाड़ीके घर । पूछा कि मारवाड़ी लोग क्या खाना पसंद करते हैं ? उनकी रसोईमें क्या-क्या होना चाहिये ?

मारवाड़ियोंको गेहूँका फुल्का रुचता है, यह पता लगते ही वे गये बाजार। ले आये गेहूँ और खुद ही बैठ गये घरकी चक्कीपर उसे पीसने और कोई घरमें था नहीं। नौकर वे रखते न थे। अपना काम तो वे खिचड़िया-चावलसे चला लेते थे। पर सेठजीके लिये उन्होंने गेहूँका फुल्का तैयार किया।

'आपने मेरे लिए इतना कष्ट क्यों किया?'—पूछनेपर बोले—'इसमें क्या कष्ट है! यह तो हमारा आतिथ्यधर्म है!'

विनोबाने सेठजीको जवाब दिया—'कहाँ माता (पिताजी) और कहाँ मैं? मैं तो 'रूखा-सूखा रामका टुकड़ा।'

साधुका रूखा-सूखा रामका टुकड़ा ही बस है। उसका तो रोम-रोम पुकारता है—

जो मोहिं राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे!......
(विनयप० १६९)

मुझे न चाहिये साहित्यके नौ रस।

मुझे न चाहिये व्यञ्जनोंके षट्रस।

रस, अनरस कुछ नहीं।

मुझे तो बस एक रस चाहिये। और वह है—रामरस!

वह मिला तो बाकी सारे रस अनरस सीठे हो जाते हैं।

× × ×

तुलसीकी ही नहीं, नानककी भी यही अनुभूति है—

खु सुइना, रस रूपा कामिणि,
खु परिमलकी वासु!
खु सेजा, खु घोड़ा मनदिर,
खु मीठा, खु मांसु!
एते रसु सरीरके
कै घट रामु निवासु?......

जबतक हमें—

सोना चाँदीमें रस आ रहा है;

कान्ता-कामिनीमें रस आ रहा है;

परिमलमें इत्र और हिनामें गुलाब और केवड़ेमें रस आ रहा है;

कोमल गुदगुदी शय्यामें, सोफासेटमें रस आ रहा है;

आलीशान शानदार बंगलेमें, हवेलीमें, मिष्ठान्नमें, रसीले व्यञ्जनोंमें रस आ रहा है; इन्द्रियोंके नाना विषयोंमें रस आ रहा है; मनमें रस आ रहा है; तबतक हमारे हृदयमें प्रभुका निवास होगा कैसे?

× × ×

साधुको क्या लेना 'सवाद'से?

तभी तो बहुतसे साधु भिक्षाकी झोली पहले पानीमें डुबा देते हैं कुछ देर और जब सब रस अनरस-एकरस हो जाते हैं, तो उसे 'पाते' हैं।

गाँधीजीने इसीलिये आश्रमके व्रतोंमें एक व्रत रखा था, अस्वाद। तो संत होता है—नीरस!

विशदता, शुभ्रता, निर्मलता तो संतकी किसीसे छिपी नहीं। जैसी कपास स्वच्छ, श्वेत, निर्मल—वैसा ही संत।

× × ×

और गुणमयता?

संत तो गुणोंका खजाना ठहरा।

किसी संतसे पूछा किसी जिज्ञासुने 'महाराज, दुर्गुणी, दुष्टोंके बीचमें रहते हुए आप सद्गुणी—संत कैसे बन गये?'

बोले—'भैया, उनमें मुझे जो-जो दुर्गुण दीखता गया, उसे मैं छोड़ता गया।'

संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।
(मानस १६)

ये दुर्गुण मिटते जाते हैं, गुण दिन-दिन बढ़ते जाते हैं संतोंमें।

× × ×

अब रही दुःख सहनेकी बात।

साधु पुरुष दुःख सहकर पराये दोषोंको ढँकते हैं।

और हम?

सहते तो हम भी हैं, पर हमारे सहनेमें और संतोंके सहनेमें कुछ अंतर है—'बीच कुछ बरना।'

हमारा 'बास'—मालिक, हमारे दफ्तरका बड़ा बाबू आये दिन हमें जलील—अपमानित करता रहता है, हम चुपचाप सहते रहते हैं।

क्यों?

इसीलिये कि इस बेकारीके जमानेमें, आसमान छेदनेवाली मँहगीके जमानेमें दो रोटियोंका ठिकाना तो है? भले ही आज बड़ी कशमकशमें गुजर हो रही है, पर बिना सहे तो कल सड़कपर बैठनेकी नौबत आ सकती है। दो कौड़ीको भी नहीं पूछेगा कोई!

अस्सी आमद, नब्बे खर्च।

हमारा बजट हमेशा घाटेका रहता है।

उसीके चलते कभी दूधवाला दस बात सुना जाता है, कभी दुकानदार। कभी मकानवाला खरी-खोटी सुना जाता है, कभी साग-सब्जीवाला। अब न सहो तो कल चायका भी ठिकाना न रहेगा। उधर मकान-वाला सामान उठाकर सड़कपर फेंक देगा! तब?

'क्या दिया है, तेरे बापने?'

हजारों, लाखों बहुओंको रोज ससुरालमें यह ताना सुनना पड़ता है, सहना पड़ता है। सास-ससुर, देवर-ननद ही नहीं, पति महोदय भी नहीं चूकते सुनानेमें। ताने कम पड़ते हैं तो मुक्कों, जूतों, लातोंकी कृपा बरसती है।

भले ही बेटीका बाप, चाचा, भाई बर्बाद हो गया हो दहेज जुटाते-जुटाते, पर ससुरालवालोंकी पैसेकी हविस, हरामकी कमाईकी हविस, कभी पूरा होनेका नाम ही नहीं लेती।

बेचारी बहू सहे जा रही है, सहे जा रही है। खूनका घूँट पी-पीकर सहे जा रही है।

जब उसकी सहनशीलता जवाब दे देती है तो बेचारी आग, पानी, फाँसी, पोटेशियम साइनाइड आदिका सहारा खोजती है। पर शाइलाकोंके कानपर फिर भी जूँ नहीं रेंगती। बनाते रहिये आप लाख दहेज-विरोधी कानून, वे आपको चूसनेके रास्ते निकाल ही लेंगे। कानूनोंसे उन्हें यह सुभीता हो गया है कि नकदी और सामान पहले ही घरपर मँगा लेंगे, शादी—बिना दहेजकी शादी—बादमें होगी!

कचहरीमें आपका कोई काम है।

लटका रहे सामने साइन बोर्ड—'रिश्वत लेना-देना दण्डनीय अपराध है', पर अहलमद, पेशकार, चपरासी आदिकी टेंट गरम किये बिना आपका रत्तीभर काम न होने देंगे।

सहिये, झख मारकर सहिये। बिना सहे गुजारा नहीं। विनोबा ठीक ही कहते हैं—'आज, 'भ्रष्टाचार' तो 'शिष्टाचार' बन गया है।'

× × ×

कोई एक-दो प्रसङ्ग थोड़े ही हैं ऐसे? सैकड़ों हैं, हजारों हैं, लाखों हैं!

हम इन सभी प्रसङ्गोंमें सहते हैं, रोज सहते हैं। यह बात दूसरी है कि दोष किसका है? भ्रष्ट समाज इसके लिये दोषी है कि भ्रष्ट अर्थतन्त्र या राज्यतन्त्र? छूरी तरबूजेपर गिरे या तरबूजा छूरीपर, मुसीबत हर हालतमें है—तरबूजेकी।

हमारी सहनशीलता सौमें नब्बे ही क्यों, निन्यानबे मौकेपर हमारे स्वार्थके लिये होती है। हमारी गर्दन फँसी है—**अब साहु फिरे मुँह बाये, रोये बने न गाये!**

पर संतका तरीका हमसे उलटा है। दुःख वे भी

सहते हैं, पर दूसरोंके हितके लिये, दूसरोंके दोषोंके परिमार्जनके लिये; दूसरोंकी कमियों-कमजोरियोंको ढँकनेके लिये।

हम पटु हैं अपने दोष ढँकनेमें। वे पटु हैं दूसरोंके दोष ढँकनेमें।

वे सोचते हैं कि दोष किसमें नहीं होते ? पर उनका प्रकटन, उनका प्रकाशन तो ठीक नहीं। उससे किसीका लाभ नहीं। मानव-कल्याण है उन्हें ढँकनेमें, उन्हें प्रेमसे सुधारनेमें।

× × ×

विनोवाके आश्रममें एक लड़केको किसीने देख लिया बीड़ी पीते।

चुराकर पी रहा था वह।

विनोवाको पता लगा। बुलाकर कहा उससे—'बेटे, मैं तेरे लिये एक बंडल मँगा देता हूँ बीड़ीका। जब तलब लगे तो मुझसे बीड़ी लेकर उसे एकान्त कोठरीमें पी लिया कर।

लोग तो हैरान।

कैसी उल्टी व्यवस्था !

बीड़ी छुड़ानेके बजाय बीड़ी पिलानेकी व्यवस्था !!

विनोवाने समझाया—किसी गलत आदतको छुड़ानेकी यह अहिंसात्मक प्रक्रिया है।

× × ×

तुलसीबाबाने ठीक ही कहा है कि साधु पुरुष वही है—

जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।
(रामचरितमा० १।१।३)

साधनामें आसनका महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी अग्निहोत्री)

परमात्म-दर्शनके लिये अन्तःकरण, इन्द्रियों तथा शरीरकी निश्चलता अपेक्षित होती है। साथ ही शारीरिक, मानसिक रोग-निवृत्ति भी आवश्यक है। आसनसे प्रायः सभी रोग नष्ट हो जाते हैं—'आसनेन रुजं हन्ति' (योगचूडामण्युप० १०९)। 'आसनं विजितं येन जितं तेन जगन्मयम्'। (श्रीजाबालदर्शनोप० ३।१३) जिसने आसन-जय कर ली, उसने तीनों लोकोंको जीत लिया। आसन-सिद्धि होनेपर चित्तकी एकाग्रता होती है। चित्त एकाग्र होनेपर संसारका अस्तित्व शून्य हो जाता है। इस प्रकार आसनसिद्ध साधक तीनों लोकोंको विजय कर लेता है। 'योगदर्शन'में 'ततो द्वन्द्वानभिघातः।' (यो० २।४८) इस सूत्रद्वारा—'आसन-सिद्धिसे योगी शीतोष्ण, सुख-दुःख, मानापमानादि द्वन्द्वोंसे अभिहत नहीं होता', ऐसा बतलाया गया है।

कर-चरणादिकी निश्चलतापूर्वक स्थितिका नाम 'आसन' है। आसन अनेक प्रकारके हैं। स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर तथा सुखासन मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त कुक्कुटासन, उत्तानकूर्मक, धनुष्, मत्स्यपीठ, पश्चिमोत्तान, बद्ध-पद्मासन, योगासन आदि अनेक अन्य आसन भी हैं। 'योगतत्त्वोपनिषद्'में चार ही आसन बतलाये गये हैं—सिद्ध, पद्म, सिंह, तथा भद्र। 'योगचूडामण्युपनिषद्'में दो आसन कहे गये हैं—सिद्धासन तथा कमलासन। 'योगकुण्डल्युपनिषद्'में भी दो आसनोंका वर्णन है—पद्मासन तथा वज्रासन। 'मण्डलब्राह्मणोपनिषद्' तथा 'योगदर्शन'में एक ही आसन कहा है—सुखासन। प्रत्येक साधककी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है और साधना-के ढंग भी अनेक प्रकारके होते हैं। साधनाके अनुसार आसनका निर्वाचन करना चाहिये। सबके लिये सब आसन नहीं हैं। यदि एक आसनसे ही सिद्धि प्राप्त हो तो अन्यकी कोई आवश्यकता नहीं। अपने अनुकूल आसनका स्वयं चयन करना या मार्गप्रदर्शक गुरुके आदेशानुसार आसनका अभ्यास करना उचित है।

स्वयं आसनके चयन करनेपर भी उसके स्वरूप आदिका ज्ञान गुरुसे करना आवश्यक है। आसन समुचित होता है या नहीं—इसकी परीक्षा सिद्धहस्त गुरुद्वारा करानी चाहिये।

आसन करनेका स्थान एकान्त तथा पवित्र होना चाहिये। एकान्त, अरण्य, पर्वतगुहा, नदी-तट आदि स्थान आसनके उपयुक्त होते हैं। स्थानका नित्य मार्जन, गोबर-लेपन तथा गुग्गुल आदिसे, उसे सुगन्धित करना चाहिये। वह मशक, दंश, कीट, शीतोष्णादिरहित हो। भूमि न नीची हो, न ऊँची। समतल भूमि हो। बैठनेके पूर्व कुशासन, उसके ऊपर मृगचर्म तथा उसके ऊपर वस्त्र बिछाना चाहिये। सुखद आसन हो, जिससे सुखपूर्वक अधिक समयतक बैठा जा सके। आसनपर बैठकर चित्त-वृत्तिको सांसारिक विषयोंसे पृथक् करे। आसन-सिद्धिके लिये आत्मस्वरूप परमात्माका स्मरण करे। फिर आसनका अभ्यास करना चाहिये। कुछ आसनोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

स्वस्तिकासन—शिर, ग्रीवा तथा वक्षःस्थल—तीनोंको ऊँचा रखकर, शरीरको सीधा रखे। मन तथा इन्द्रियोंको सब ओरसे हटाकर, सुसंयमित करे। दक्षिण पैरके जानुमध्यमें, वामपाद-तल रखे और वाम पैरके जानु-मध्यमें दक्षिण पाद-तल रखना चाहिये। यह 'स्वस्तिकासन' कहा जाता है। इसका अधिकाधिक समयतक अभ्यास करना चाहिये। यह आसन सर्व-दुःख-विनाशक है।

पद्मासन—दक्षिण पादको उत्तानकर वाम ऊरु (जांघ)के ऊपर रखे। इसी प्रकार वामपादको उत्तानकर दक्षिण ऊरुपर रखे। पृष्ठ-पार्श्वके दक्षिण हस्त लाकर दक्षिण पादका अङ्गुष्ठ पकड़े, इसी प्रकार वाम हस्तसे वाम पादका अङ्गुष्ठ पकड़े। सिर, ग्रीवा तथा वक्षःस्थलको सीधा रखे और नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रखे। यह 'पद्मासन' पाप, रोग तथा भय-निवारक है। अथवा दोनों चरणोंको एक दूसरे ऊरुपर रखकर दोनों हाथको सीधा कर ऊरुके मध्य रखे। नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि करे, जिह्वाको दन्तमूलमें स्थित करे और वक्षःस्थलमें चिबुकको स्थापित करे। फिर धीरे-धीरे प्राण-वायुको भीतर खींचे, यथाशक्ति उसे उदरमें रोके और फिर धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। यह 'पद्मासन' सर्व-व्याधि-विनाशक है। इसके अभ्याससे प्राणवायु सम होता है और सुषुम्नामें प्रवेश कर जाता है।

भद्रासन—दोनों पादके गुल्फ (एड़ी)को उलटकर अण्डकोशके नीचे रखे। पृष्ठदेशसे दोनों हाथोंको लाकर दोनों पैरके अङ्गुष्ठ पकड़े। कण्ठका संकोचन कर, वक्षःस्थलमें चिबुक-स्थापित करनेसे 'जालन्धरबन्ध' होता है। जालन्धर-बन्धके साथ भद्रासन करे और नासिकाके अग्रभागमें ध्यान करे। इसे 'भद्रासन' कहा जाता है, यह सर्वरोग-विनाशक है।

मुक्तासन—सीवनी (उपस्थ एवं विष्ठाकी मध्यवर्ती सिवाई रेखा)के अधःभागमें वाम गुल्फ, उसके ऊपर दक्षिण गुल्फ रखे। सिर, ग्रीवा निश्चल सम रहना चाहिये; यानी सीधा बैठे, इसे 'मुक्तासन' कहा जाता है। यह भी सिद्धि-प्रदायक है।

वीरासन—दक्षिण पादका अग्रभाग, वाम पादके ऊरुमें रखे और वाम-पादका अग्रभाग दक्षिण पादके ऊरुमें रखे। शरीरको सीधा कर, सुखपूर्वक स्थित हो। इसे वीरासन कहा जाता है अथवा एक पैर ऊरुमें रखे और दूसरा पैर पीछे रखे। यह 'वीरासन' है।

मयूरासन—भूमिमें दोनों हाथके तलको रखे, फिर दोनों कूर्पर यानी दोनों हाथकी गाँठोंको नाभि-पार्श्वमें रखे और दण्डवत् सिर तथा पादको ऊपर आकाशमें स्थापित करे। यह 'मयूरासन' सब पापोंका नाशक तथा विष-दोष-निवारक है।

सिंहासन—वाम गुल्फको दक्षिण अण्डकोषके नीचे रखे यानी सीवनीके दक्षिण पार्श्वमें वाम पादकी एड़ी रखे, इसी प्रकार दक्षिण पादके गुल्फको सीवनीके वाम पार्श्वमें रखे, दोनों पैरकी पिंडरीको भूमिमें स्थापित करे। फिर जानुकी ओर मुखकर कण्ठ-संकोचनपूर्वक वक्षःस्थलमें चिबुक स्थापित कर, नासिकाके अग्रभागका अवलोकन करनेसे 'सिंहासन' होता है। अथवा सीवनीके वाम-पार्श्वमें दक्षिण पाद-गुल्फको और सीवनीके दक्षिण पार्श्वमें वाम पाद-गुल्फको नीचे स्थापित करे। दोनों जानुओंमें हाथकी अँगुलि फैलाकर स्थापित करे और नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रखे। यह 'सिंहासन' है।

गोमुखासन—दोनों पैरोंको भूमिमें स्थापित कर, पृष्ठ-पार्श्व यानी पीठके बगलमें लगाये। और शरीरको स्थिर कर बैठे, यह 'गोमुखासन' है।

सुखासन—अन्य आसन करनेमें अशक्त हो, तो सुखासन करना चाहिये। जिस किसी प्रकार बैठनेमें सुख तथा धैर्य उत्पन्न होता है, वह 'सुखासन' कहा जाता है।

सिद्धासन—गुदा तथा उपस्थके मध्य योनिका स्थान है। इसे वाम पादके गुल्फसे दबाये और दक्षिण पादके गुल्फको उपस्थके ऊपर स्थापित करे। दोनों पैरके गुल्फ नीचे-ऊपर हो जाते हैं। दोनों पैरके अङ्गुष्ठ जानुके मध्य हो जाते हैं। वक्षःस्थलमें चिबुक स्थापित कर, मनको एकाग्र कर दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिर करनेपर 'सिद्धासन' होता है। यह आसन मोक्ष-कपाटको खोलता है।

शास्त्रानुसार चौरासी लक्ष योनियाँ हैं, उतने ही आसन भी हैं। इनमें चौरासी आसन मुख्य हैं। चौरासीमें भी बत्तीस, बत्तीसमें नौ और नौमें भी दो आसन प्रमुख हैं—एक सिद्धासन, दूसरा पद्मासन। यद्यपि प्रत्येक आसनका प्रभाव शरीरपर पड़ता है, तथापि सिद्धासन और पद्मासनका प्रभाव चित्त तथा इन्द्रियोंपर भी विशेष रूपसे पड़ता है। इनके अभ्याससे शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणकी चञ्चलता, रोग, आलस्यादि निवृत्त हो जाते हैं। शरीरादिमें हलकापन, स्फूर्ति तथा उत्साह-वृद्धि होती है। किसी भी कार्य-सिद्धिके लिये स्थिरता परमावश्यक है। आसनसे ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। अतः सावधान होकर आसन-सिद्ध करना आवश्यक है।

आत्म-प्रबोध

है सर्वव्यापक आत्म तू सब विश्वमें है भर रहा।
छोटा अविद्या से बना है, जन्म ले ले मर रहा॥
माने स्वयँ को देह तू, ममता अहंता कर रहा।
चिन्ता करे है दूसरों की, व्यर्थ ही है जर रहा॥
जब चित्त पूर्ण निरुद्ध हो, तब तू समाधी पायगा।
जबतक न होगा चित्त थिर, नहिं मोह तबतक जायगा॥
जब मोह होगा दूर तब तू आत्म को लख पायगा।
जब होय दर्शन आत्मका, कृतकृत्य तू हो जायगा॥

—स्वामी श्रीभोलेबाबाजी

गोस्वामी तुलसीदासजीका नाम-प्रेम

(लेखक—श्रीशिवजसनजी, 'भक्तवत्सल', एम्० ए०)

शब्दका रूप बोधके लिये है। तुलसीके 'राम' कहनेसे मानसमें वर्णित 'राम', दशरथ-सुत 'राम', रावण-को मारनेवाले 'राम', शिवका धनुष तोड़कर जनकके प्रण-की रक्षा करनेवाले और सीताके साथ विवाह रचानेवाले अवतारी मर्यादापुरुषोत्तमका बोध होता है। अहिंदू हिंदी भाषाके ज्ञाताओंके लिये 'राम' 'मुनि तिय तारक' नहीं, सशक्त रावणको मारनेवाले समुद्रमें सेतु बँधवानेवाले पुरुषोत्तम नहीं, बल्कि उनकी दृष्टिमें 'राम' हिंदुओंके एक अवतरित देवता हैं, जो धार्मिक दृष्टिकोणसे पूजनीय हैं। कारण यह है कि मानसमें तुलसीदासजीने अपने रामको ऐसे रंगोंमें रखा है कि सबको अपनी भावनाके अनुसार उन भगवान्का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है—

'जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥'

(मानस १। २४०। २)

उनके शब्दोंमें 'राम' अनन्त, अचिन्त्य, अनादि, और अनीह हैं। उनके गुण अमित हैं, अनन्त हैं और सदैव स्मरणीय हैं।

इन सबोंका कारण यह नहीं है कि तुलसीदासजीने पराभक्ति प्राप्त कर ली थी, या यह भी नहीं कि वे योगी, तपस्वी एवं वैरागी थे। इसका एकमात्र कारण उनका संत-चित्त (साधुहृदय) होना था। वस्तुतः वे एक ही साथ भक्त, वैरागी, योगी एवं तपस्वीकी मण्डलीमें विराजमान दृष्टिगत होते हैं और फलतः उनकी जीवन-विधि, रहनी, भगवद्भक्तिकी मधुरिमासे पूर्णतः परिप्लावित हो गयी ए उनकी रसमयी वाणीमें सत्यके प्रति प्रीति अथवा अनुरक्तिकी मन्दाकिनी प्रवाहित होती रही। उनके प्राणोंमें चित्तवृत्तियोंके तार-तारमें अध्यात्म माधुर्यका दिव्य संगीत झङ्कृत होता रहा। स्पष्टतः वे सदैव भक्तिमें रत रहे और उसीके माध्यमसे श्रीरामके दरबारमें उपस्थित रहे। निर्गुण ब्रह्म तो निरुपम और अपरिभावित है, तो फिर जो उसमें लीन है, वह स्वयं उस स्थितिमें हो, इसमें आश्चर्य कैसा? यथा—

अगुन, सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।

× × × ×

निर्गुन सगुन विषम सम रूपं।

× × × ×

सगुन अगुन उर अन्तरजामी।

× × × ×

स्वयं तुलसीदासजीने परम लघुतामें अपनेको बतलाकर एक ओर अपनी निर्वैयक्तिकताका परिचय दिया है तो दूसरी ओर अपने राम-नामकी मर्यादासे मानसके पन्ने-पन्नेको तुलसीदल बनाकर मानवताका परम कल्याण-कार्य किया है। उनके राम सर्वत्र, सर्वकालीन, सम-स्वरूप, शाश्वत तथा सत्य-स्वरूप हैं। संत स्थितप्रज्ञ होते हैं। उनके हृदयमें सदैव सार्वभौमिक-भावनाएँ उफनती रहती हैं और फलस्वरूप उनके चरित्रमें ही समष्टित्व आ जाता है। तुलसीदासजीके रोम-रोममें राम रम गये। यथा—

'रामकी सपथ, सरबस मेरे राम नाम'

(कवितावली १७८)

तुलसीदासजीके राम सर्वत्र हैं। वे सब कुछ हैं, और उनके सिवा कुछ नहीं है। अणु-अणुसे उनका तादात्म्य है। इस निखिल सृष्टिके प्रत्येक वस्तुमें वे हैं; यथा—

'सीयराम मय सब जग जानी।'

× × × ×

ज्ञातव्य है कि सृष्टिमें पाँच तत्त्व हैं—सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप। इनमें प्रथम तीन निर्गुण ब्रह्म-

के रूप हैं, और अन्तिम दो—नाम और रूप सगुण ब्रह्मके द्योतक हैं। 'राम-नाम'—नाम-रूप स्वरूप हैं। नाम और रूप ये दोनों ईश्वरकी ही उपाधियाँ हैं—

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥

स्पष्ट है—नाम और रूप, दोनों ही तत्त्व सगुण ब्रह्मकी उपाधियाँ हैं। सीमाका असीममें पर्यवसान होना, बूँदका समुद्रमें विलयन होना और ब्रह्मका ईश्वरके रूपमें प्रतिफलित होना एक ही तात्त्विक बोधको व्यक्त करते हैं; यथा—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥

× × × ×

संत कवियोंने भी ईश्वरकी उपाधि 'राम'को समष्टि-रूप दिया है—

दसरथ सुत सोइ राम कहावा। राम नाम का मर्म न पावा॥

× × × ×

'राम' ब्रह्मस्वरूप हैं। उस विराट् ब्रह्मके समक्ष रामको लाकर सगुणको लघुताकी सीढ़ीपर नहीं रखना पड़ा। वे स्वयं उस निर्गुणके लिये कहते हैं—

'कहेउ नामु बड़ ब्रह्म राम तें', और—

एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥

कारण क्या है, इस बातको भी सुस्पष्ट कर दिया गया है—

उभय अगम जुग सुगम नाम तें।
कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें॥

× × × ×

तुलसीदासजीने जहाँ नाम और रूपको ईश्वरकी संज्ञासे अभिहित किया है, वहीं क्रमकी दृष्टिसे 'नाम'को 'रूप'से पहले स्थान दिया है। नाम रूपसे भी अधिक श्रेष्ठ है। कारण यह कि—

'राम एक तापस तिय तारी' —और
'नाम कोटि खल कुमति सुधारी'

स्पष्टतः 'राम' श्रीभगवान्‌का एक विशिष्ट नाम है और यही कारण है कि तुलसीने 'राम'का अर्थ सम्पूर्ण रचनाके साथ ब्रह्मके नामसे अभिहित किया है। कबीरने भी 'राम-नाम'को तारकके रूपमें स्वीकार किया है। कबीर फक्कड़ संत थे। अतः उन्हें कोई ज्ञान ठग ले, धोखा दे दे, यह अति दुष्कर था।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम-नाम ततसार है, सब काहू उपदेस॥
(कबीरग्रन्थावली पद २)

तुलसीदासजीने भी नामका प्रभाव बहुत ही सटीक ढंगसे ग्रहण किया। उस 'राम-नाम'का मर्म उनके लिये अभेद नहीं रहा। उन्होंने बहुत ही सरलभावसे उस शब्दको अपनाया—

राम-नाम अनुराग ही जिय जो रति आतो।
स्वारथ-परमारथ-पथी तोहिं सब पतिआतो॥
(कवितावली ७)

वे भक्त-संत थे, और इस कारण ही उनके लिये न शब्दका आडम्बर था, न विचारकी गूढ़ता। सहजमें जो मनमें पैठ जाय और सन्मार्गपर ले जाय, वही भक्ति है, वही ज्ञान है। संत परोपकारी होते हैं, भक्त परसेवी। सेवा अभियाचित है, परोपकार सर्वकालिक एवं निष्कामात्मक। अपने चारित्रिक सद्गुणके कारण ही तुलसीदासजीने राम-नाम-महिमाको सर्वोपरि, सर्वकालिक तथा सुगम बतलाया है।

नाम कामतरु काल कराला।
सुमिरत समन सकल जग जाला॥
(मानस १। २६। २½)

भगवान्‌का नाम-जप अध्यात्मकी दिशामें अग्रसर होनेकी प्रथम सीढ़ी है। बिना स्मरण किये ध्यानमें कोई आता तो है नहीं। स्मरणके बाद ध्यान होता है। अतएव 'राम-नाम'को ध्यानमें लानेके लिये, हृदयमें उस मूरतकी सूरतको चिरस्थायी बनानेके लिये नामका जप

अत्यावश्यक एवं अपरिहार्य है। तुलसीदासजीने इस सांसारिक माया-मोहके चौतरफे जीवन-परिवेशके वात्या-चक्रसे विमुक्त होनेके लिये भारतीय जीवनकी मानवताके सम्मुख 'राम-नाम'का गुरु-मन्त्र रख छोड़ा है और उनके इस पवित्र मन्त्रके महत्त्वको भुलाना सद्गुणियोंके लिये असम्भव है—'राम-नाम'की रट पाप एवं अमङ्गलको दूर करनेवाली है। यथा—

रुचिर रसना तू राम राम राम क्यों न रटत।
सुमिरत सुख-सुकृत बढ़त, अघ-अमंगल घटत॥
(विनयपत्रिका १२९। १)

स्पष्टतः गोस्वामी तुलसीदासजीका 'राम-नाम' सर्व-साधारणसे लेकर संत-महात्माओंतकको एक ही मार्ग—मुक्तिका निर्देशक है। इसके पवित्र अभ्याससे आत्म-शुद्धिमात्र ही नहीं होती, बल्कि उस परम पिता परमेश्वरके दिव्यरूपका चिरस्थायी दर्शनका शुद्ध सुअवसर सदैव साथ हो जाता है। चित्त-वृत्तियोंकी शान्तिके लिये अथवा ब्रह्मके साक्षात्कारके लिये भला 'राम-नाम'-जपको छोड़कर इस कलिकालमें अन्य कौन-सा सुगम तथा सस्ता रास्ता हो सकता है?

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू।
राम नाम अवलंबन एकू॥
(रामचरितमा०)

दोहावलीमें हनुमद्भक्ति

(लेखक—पं० श्रीवेदप्रकाशजी पाण्डेय)

जब कोई भक्त या उपासक किसी चरम सत्ता (उपास्य या आराध्य)का अटूट सांनिध्य प्राप्त कर लेता है और अपने व्यक्तित्वका उस परम तत्त्वमें लय कर देता है, तब वह (उपासक) भी उस परम तत्त्व (उपास्य)की तात्त्विकतासे मण्डित होकर उसीकी भाँति (परम तत्त्व) लोकमानसमें प्रतिष्ठित हो जाता है और जन-सामान्यकी श्रद्धा-भक्तिका आकर्षणकेन्द्र बन जाता है।

भक्तप्रवर श्रीहनुमान्‌जीके साथ भी यही घटित हुआ है। हनुमान्‌जी अपनी अनन्य भक्तिभावनाके कारण श्रीरामसे अभिन्न हो चुके हैं। राममें उनकी तदाकार परिणति हो गयी है। उनमें रामत्व उतर आया है।

यही कारण है कि श्रीहनुमान् भी श्रीरामके सदृश लोकमतमें अत्युच्च आसनपर प्रतिष्ठित हैं और रामकी भाँति ही उन्हींकी महिमासे मण्डित होनेके कारण, लोकपूज्य एवं लोकाराध्य हैं।

रामकथाके विभिन्न पात्रोंमें श्रीहनुमान्‌जीका विशिष्ट स्थान है। हनुमान् भगवान् श्रीरामके सबसे बड़े सेवक एवं भक्त हैं। श्रीरामके रामत्वकी प्रतिष्ठापनामें हनुमान्‌का एक विशिष्ट एवं अन्यतम योगदान है। हनुमान्‌के बिना श्रीरामका जीवन अपूर्ण लगता है—रामकथा अधूरी लगती है। हनुमान् श्रीरामकी उत्कट आशाओं-अभिलाषाओंके जीवन्त विग्रह हैं। वे उन्हें भरत और लक्ष्मणसे भी अधिक प्रिय हैं।

श्रीरामके परम विश्वसनीय अन्तरङ्ग सहचर, अन्यतम सहायक, अद्वितीय भक्त, उत्कृष्ट सेवक एवं अद्भुत शौर्य-सम्पन्न दूत हैं। श्रीहनुमान्‌के विराट् व्यक्तित्वपर गोस्वामी तुलसीदासजीका विमुग्ध होना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं—एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसीसे तो उन्होंने सेवकको स्वामीसे बड़ा सिद्ध करनेमें तनिक भी संकोच नहीं किया है—

साहब तें सेवक बड़ो, जो निज धरम सुजान।
राम बाँधि उतरे उदधि, लाँघि गये हनुमान॥
(दोहावली ५२८)

गोस्वामीजी रामभक्तिमें सहायक प्रत्येक अणु-कण-के प्रति अनुरक्त हैं, फिर हनुमान्‌जीकी तो बात ही क्या ! श्रीहनुमान् रामके सबसे निकट हैं और गोस्वामी-जीकी अटूट श्रद्धा-भक्तिके विलक्षण पात्र हैं। उनकी यही अनुरक्ति प्रगाढ़ होकर भक्तिका स्वरूप ग्रहण कर लेती है और तब वे श्रीहनुमान्‌को रुद्र अथवा शिवके अवतार-रूपमें मान्यता देते हैं—

जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस, बानर भे हनुमान॥
(दोहावली १४२)

और भी—

जानि राम सेवा सरस, समुझि करब अनुमान।
पुरखा ते सेवक भये, हर ते भे हनुमान॥
(दोहावली १४३)

संत तुलसीदासजीकी हनुमद्भक्तिका दर्शन 'मानस'-में सम्यक् रूपसे और उनके अन्य ग्रन्थोंमें स्फुट रूपसे होता है। 'दोहावली'के विभिन्न दोहोंमें उनकी हनुमद्-विषयक भक्तिपूर्ण अवधारणा तथा उनके प्रति गहन निष्ठाका भाव देखनेको मिलता है। कहीं उन्होंने हनुमान्‌के मङ्गलमय मञ्जुल स्वरूपका परिदर्शन किया है तो कहीं उनके सुख-सम्पदाप्रदायक, रोग-शोक-निवारक समर्थ रूपका। वे सर्वसिद्धियोंके तो प्रदाता हैं ही। यहाँ हम महात्मा तुलसीकी (दोहावलीमें अभिव्यक्त) हनुमद्भक्तिके विविध रूपोंका पृथक्-पृथक् चित्र देखें—

मंजुल-मंगल मोदमय मूरति मारुत पूत।
सकल सिद्धि करकमलतल सुमिरत रघुबर दूत॥
धीर बीर रघुबीर प्रिय, सुमिरि समीर कुमार।
अगम-सुगम सब काज करु, करतल सिद्धि बिचार॥
(रामाज्ञाप्रश्न ६।४।१)

सुख मुद मंगल कुमुद बिधु, सगुन सरोरुह भानु।
करहु काज सब सिद्धि प्रभु आनि हिएँ हनुमानु॥
(रामाज्ञाप्रश्न ७।१।२, दोहावली २३१)

सकल काज सुभ समउ भल सगुन सुमंगल जानु।
कीरति बिजय बिभूति भलि, हिय हनुमानहिं आनु॥
(दोहा० २३२; रामाज्ञाप्रश्न ३।४।१)

रोगप्रणाशक हनुमान्

तुलसी तनु सर-सुख जलज भुज रुज गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिए कपि केसरी किसोर॥
(दोहावली २३४)

वीरत्वके साथ विनयका मणि-काञ्चनसंयोग हमें हनुमान्‌जीके व्यक्तित्वमें स्पष्टतः दिखायी देता है। श्रीहनुमान्‌जी सेवाके प्रतीक हैं। सच्चे सेवकके सारे गुण उनमें विद्यमान हैं। परम पराक्रमी एवं परम ज्ञानी होने-पर भी उनमें अभिमान तथा अहम्मन्यताका लेश भी नहीं है। स्वभावकी ऐसी ही निरभिमानता गोस्वामीजी-जैसे उच्चकोटिके भक्तके लिये अभिप्रेत है। ऐसे निष्कलुष, दम्भरहित-अहंशून्य, निश्छल-पावन व्यक्तित्वपर उनका रीझना और यह कहना कितना समीचीन है कि—

लंक बिभीषन राज कपि पति मारुति खग मीच।
लही राम सों नामरति चाहत तुलसी नीच॥
(दोहावली ३४)

श्रीहनुमान्‌का दूतत्व अनुपमेय है। गोस्वामी श्री-तुलसीदासजी हनुमान्‌के दौत्य-कर्मके चिर प्रशंसक हैं। वे उन रामका स्मरण करना चाहते हैं, जिनके दूत स्वयं हनुमान् हैं। उल्लेखनीय है कि रामके और भी दूत हैं, किंतु गोस्वामीजीकी प्रशंसाका विषय हनुमान्‌का दूतत्व ही हो सका है, किसी अन्यका नहीं—

मुए जिआए भालु कपि, अवध बिप्र को पूत।
सुमिरहु तुलसी ताहि तू जाको मारुति दूत॥
(दोहावली १७६)

श्रीराम सद्गृहस्थ हैं और हनुमान् उच्चकोटिके सेवक-साधु। साधुका कार्य आजन्म समस्त भूतमात्रकी निः-स्वार्थ-निष्काम सेवा करना है। भगवान् रामके जीवनके गहनतम क्षणोंके साथी श्रीहनुमान् हैं। सीता-खोज हो

या सिन्धुतरण, लक्ष्मणके पुनरुज्जीवनहेतु औषधि-पर्वतका आनयन हो या राम-रावण-संग्राम—हनुमान् सबमें श्रीरामकी अनन्य सेवा-भावनासे जुटे रहते हैं। इस प्रकार एक सच्चे सेवकका स्वरूप हनुमान्की व्यक्तित्व-कल्पनामें स्पष्टतः दर्शनीय है। श्रीराम हनुमान्की इसी अविरल-उत्कट सेवाके वशीभूत हैं और हनुमान्के असंख्य-अतुलनीय कार्योंका आकलन करते हुए उनके प्रति चिर-कृतज्ञ भी—

कियो सुसेवक धरम कपि, प्रभु कृतज्ञ जिय जानि।
जोरि हाथ ठाढ़े भए, बरदायक बरदानि॥
(दोहावली ११२)

अन्तमें हम कह सकते हैं कि 'दोहावली'में व्यक्त गोस्वामीजीकी हनुमद्भक्तिका प्रबल आधार यह है कि वे भक्त (हनुमान्)को भगवान् (राम)से बढ़कर मानते हैं। हनुमान्-जैसे रामके सर्वश्रेष्ठ भक्तको सबसे बढ़कर मानना उनके लिये नितान्त स्वाभाविक है और कदाचित् इसीसे उन्होंने हनुमान्के प्रति अपनी अनन्य भक्तिभावनाका प्रकाशन करते हुए प्रस्तुत दोहा कहा है—

तुलसी रामहु ते अधिक राम भगत जियँ जान।
रूनिया राजा राम भे, धनिक भए हनुमान॥
(दोहावली १११)

सिद्धिका मूल—साधना

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्राणिमात्रकी कुछ-न-कुछ इच्छा होती है और हमारी इच्छाकी पूर्ति हो जाय—यह सभी चाहते हैं। सारी प्रवृत्तियाँ किसी-न-किसी इच्छापूर्तिके लिये ही होती हैं। अच्छा हो या बुरा, जिस अभीष्टके लिये हम निरन्तर प्रयत्नशील हैं, वह प्राप्त हो जाय—यह इच्छा किसे नहीं होती? हाँ, सबकी इच्छाएँ एक-सी नहीं होतीं। कोई कुछ चाहता है और कोई कुछ, किंतु कुछ-न-कुछ पानेकी चाह सबकी होती है। इसलिये प्रवृत्तियाँ भी अलग-अलग प्रकारकी होती हैं। जिसे जिस स्थानपर जाना है, वह उसीके पास पहुँचनेवाले मार्गको अपनायगा। पर चाहमात्रसे ही कार्यसिद्धि नहीं होती। अतः उसकी प्राप्तिके लिये अनुकूल प्रवृत्तियाँ अपनानी पड़ती हैं। साधनको निश्चित कर उसे अपनानेसे सिद्धि मिलती है, अतः सिद्धिका मूल साधनामें ही निहित है।

इच्छित कार्यका पूर्ण होना ही उसकी सिद्धि है। विविध इच्छाओंके कार्य तो अनेक होंगे ही और कार्य विविध तो उनके फल भी विभिन्न होंगे, अतः सिद्धि भी विभिन्न प्रकारकी समझिये। जो व्यक्ति जो परिणाम चाहता है, उसकी प्राप्ति ही उसकी सिद्धि है। साधनाका फल ही सिद्धि है। सिद्धि मिली तो साधनाकी पूर्णता हुई।

सिद्धिके लिये साधना आवश्यक है। उसके बिना सिद्धि नहीं मिल सकती। साधनाद्वारा सुषुप्त शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं एवं जाग्रत् शक्तियाँ सबल बनती हैं, जिससे सिद्धि सहज ही प्राप्त हो जाती है। वास्तवमें आत्माकी अनेक शक्तियाँ सुषुप्त पड़ी हैं, आवरित हैं, उनका भान ही पहले नहीं होता। इसलिये मनुष्य कह बैठता है कि मैं इसे नहीं कर सकता या यह मेरे लिये असम्भव है; क्योंकि मुझे अन्तर्गुप्त शक्तियोंके सम्बन्धमें कोई कल्पना ही नहीं होती। पर जब वह दूसरे व्यक्तियोंको उस कामको करते देखता है तो विचार होता है कि 'वह कर सकता है तो मैं क्यों न कर सकूँगा?' इसीलिये कहा गया है कि साधनोंके बल प्राप्त करनेके लिये किसी पूर्ण साधकका आदर्श रखना चाहिये या उसके सांनिध्यमें साधना प्रारम्भ करनी चाहिये। प्रभुको देखकर अपनी अन्तर्निहित प्रभुताका भान होता है और महान्

पुरुषोंकी साधनासे ही साधना करनेकी प्रेरणा मिलती है—मार्ग-दर्शन तथा बल मिलता है। दृष्टान्तके लिये कहा गया है—

> अज-कुलगत केहरी लहे रे,
> निज पद सिंह निहाल।
> तिमि प्रभु-भक्ति भक्त लहे रे,
> आतमशक्ति सँभाल॥

एक सिंहका बच्चा बकरियोंके टोलेमें जनमते ही रहने लगा, इसलिये वह अपने-आपको उनके-जैसा बकरा मान बैठा और अपने सिंहत्वके बल-पौरुषको भूल गया, पर बड़े होनेपर अचानक अपने-जैसे सिंहको देखा और जब अन्य बकरियोंका झुंड भाग खड़ा हुआ तो उसने सोचा कि उनके भागनेका कारण क्या है ? विचार करनेपर उसने अपने स्वरूपको जाना, अर्थात् उसे अपने बल-पौरुषका ज्ञान हो आया। वैसे ही प्रभुवत् अपनी आत्मा है, पर जो अनादि संस्कारोंसे स्वरूपको भूल बैठा है, किंतु प्रभु-दर्शन करके उसे अपनी प्रभुताका स्मरण हो आता है, वह साधनपथमें प्रवृत्त हो जाता है।

शक्ति साधनामें ही है या साधनाद्वारा ही शक्ति प्रकट और प्राप्त की जा सकती है। फिर इसका प्रयोग सही दिशामें किया या उल्टी दिशामें, यह साधकपर निर्भर है। मन्त्रको ही लीजिये। अक्षर वे ही हैं, जिनका हम प्रतिदिन व्यवहार करते हैं, केवल उनका अमुक संयोजन या उच्चारण कर दिया जाता है—पर इतनेहीसे फल नहीं मिलता है, उसमें जो फलदाताका विकास या प्रादुर्भाव होता है, उसका कारण मन्त्रकी साधना करनेमें है। अमुक परिमाणमें अमुक तरीकेसे उनका जप किया जाय तो शब्दोंमें साधनाके बलपर एक विशेष शक्ति उत्पन्न होती है और वही उस मन्त्रकी सिद्धि है। वही फलती है। वास्तवमें साधना ही आत्मविश्वास है, शब्द तो निमित्तमात्र हैं। शब्द या मन्त्र तो वही हैं, पर साधनाकी कमी-बेसीके कारण सबको सिद्धि एक-जैसी नहीं मिलती। कोई व्यक्ति किसी मन्त्रसे चमत्कार दिखा देता है। वही मन्त्र दूसरा व्यक्ति बोलता है, पर उससे वैसा चमत्कार उत्पन्न नहीं होता। साधनाके तारतम्यसे ही सिद्धिका तारताम्य होता है। साधनाका तारतम्य योग्यता एवं प्रयत्नके अन्तरके कारण रहता है। हर प्रकारकी सिद्धिमें साधनाकी आवश्यकता होती है।

अब हमें देखना यह है कि साधना कहते किसे हैं ? साधक-साध्यकी प्राप्तिके लिये जो अनुकूल प्रयत्न करता है, वही प्रयत्न अभ्यास कहलाता है और साध्यको लक्ष्यमें रखकर उस अभ्यासको बढ़ाते जाना ही साधना है।

कार्यकी गुरुता एवं साधारणताके कारण साधना भी चिरकालीन और अल्पकालीन होती है। दीर्घकालीन साधनामें अडिग धैर्यकी बड़ी आवश्यकता होती है, जब चाहा, तभी फल मिल सकता है। कहा गया है—

> धीरे-धीरे ठाकराँ, धीरे सब कुछ होय।
> माली सींचै सौ घड़ा, रुत आयाँ फल होय॥

जबतक साधना अधूरी है, उसकी फल-सिद्धि भी अधूरी रहेगी। साधना जितनी ही निर्बल होगी, फल-सिद्धि भी उतनी ही कच्ची होगी। अतः उतावली करनेसे काम नहीं चलता है। जिसको जितने समयतक जिस ढंगकी साधना करना आवश्यक है, उसे उसी प्रकार और उतने समयतक करते रहनेसे ही फल मिलेगा। अतः जितना प्रयत्न, समय और श्रम साधनामें अपेक्षित है, उतना करते जाना, उसमें बल बढ़ाते जाना आवश्यक है।

दूसरी बात, साधनामें विघ्न-बाधाएँ भी आती हैं, उनसे विचलित नहीं होना चाहिये। विघ्न-बाधाएँ परीक्षारूप हैं, उनमें डटे रहनेसे बल मिलता है। सिद्धि सहज एवं शीघ्र हो जाती है। विघ्न-बाधाओंसे विचलित हुआ तो किये-करायेपर पानी फिर जाता है, भविष्यमें उस निराशा एवं असफलताके कारण मन निरुत्साहित

हो जाता है। अतः पुनः प्रारम्भ करनेकी इच्छा ही नहीं होती। अधीरतासे 'कात्यो पिञ्ज्यो हुयो कपास' 'गुड़ गोबर' हो जाता है। अतः साधना करते हुए जो विघ्न-बाधाएँ आवें उनको शान्तिके साथ धैर्यपूर्वक सहन करते हुए उन्हें पार कर जाना पड़ता है।

साधना प्रारम्भ करनेके लिये उत्कट इच्छा, दृढ़ निश्चय व परिपूर्ण आत्म-विश्वासका पूरी लगनके साथ निरन्तर प्रयत्न करते रहना परमावश्यक है। उत्कट इच्छाके बिना साधनामें रस नहीं मिलेगा। रस न मिलनेपर साधनाको अधिक दिन चलाये रखना कठिन हो जाता है। सिद्धिके लिये जितनी भूख व इच्छा होगी, साधनामें उतना ही रस एवं बल मिलेगा। इसी प्रकार दृढ़ निश्चयके बिना उत्साहमें मन्दता आती रहेगी। विघ्न-बाधाएँ आते ही मन उचट जायगा, आगे बढ़नेका उत्साह जाता रहेगा और साधनाके द्वारा सिद्धि मिलना निश्चित नहीं प्रतीत होगा; अतः साधना पूर्ण न होगी। मनमें यदि दुविधा रही तो फल न मिलते देखकर शिथिलता आ जायगी। अतः अखण्ड आत्म-विश्वास होना चाहिये कि प्रतिबन्धवश फलमें देरी हो सकती है। पर साधना कभी निष्फल नहीं जाती, देर-सवेर फल अवश्य मिलेगा। अतः बीचमें छोड़ देनेकी आवश्यकता नहीं, कार्य करते रहना है। जब साधना सिद्धि-योग्य हो जायगी तब फल स्वयं मिल जायगा। साधनासे सिद्धिका घनिष्ठतम निश्चित सम्बन्ध है। यावत्-साधनाकी पूर्णता ही सिद्धि है। वस्तुतः एक ही वस्तुके दो छोर हैं। एक छोरसे प्रारम्भ होता है। जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे दूसरा छोर निकट आने लगता है और उस छोरपर पहुँच जाना ही सिद्धि है। बीचमें ही प्रतिकूल संयोगोंसे अटक गये, प्रवृत्तिमें शिथिलता आ गयी, तो बीचमें लटके ही रहेंगे।

सिद्धि साधनोंपर ही आश्रित नहीं, साधनापर भी आधारित है। एक व्यक्तिको साधन अधिक मिलनेपर यदि वह साधना कम या बिलकुल नहीं करेगा तो सिद्धि नहीं या कम मिलेगी। और दूसरे व्यक्तिको साधन कम ही मिले हों, पर साधना ठीकसे करता है तो सिद्धि सहज व परिपूर्ण मिलेगी। अनेक धनियोंके लड़कोंको पुस्तकें व शिक्षा आदिके साधनोंकी कमी नहीं होती। पर उतनी लगन व निष्ठासे काम नहीं करते, अतः उतनी सफलता नहीं मिलती; जब कि गरीब विद्यार्थियोंको पुस्तकें इधर-उधरसे देखनी पड़ती हैं, पूछ-ताछ और दौड़-धूप भी करनी होती है, पर साधना अधिक करनेसे सफलता उन्हें ही अधिक मिलती है—

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'
(कुलार्णव, पञ्चतन्त्र ५। ९८)

साधना करते समय दत्तचित्त होकर उसको आगे बढ़ानेका प्रयत्न करना चाहिये। उस समय फलकी चिन्ता न हो, फल तो अवश्य मिलेगा ही, यह आत्म-विश्वास होना चाहिये। हर समय फल-प्राप्ति सम्मुख रही तो साधना ठीकसे न होगी, मनकी शक्ति भी बिखर जायगी। यह ठीक है कि लक्ष्यविहीन साधना निष्फल है, अतः लक्ष्य एवं साध्य निश्चित हो; पर हर समय फलका ही ध्यान रहा तो फल पानेमें देरी लगेगी, प्रयत्न शैथिल्यसे। दूसरी बात यह है कि जो जितना फल माँगता है, उसे उतना ही मिलता है। किंतु जो माँगता ही नहीं; अपना कार्य ठीकसे किये जाता है, उसे अपेक्षाकृत फल अधिक ही मिलेगा। फल माँगना तो सौदा हो गया। उनका मोल माँगने जितना ही है, तब फलाकाङ्क्षारहित साधनाका फल अपरिमित है। इसीलिये गीतामें कहा गया है कि 'कार्य करते जाओ, फलकी आकाङ्क्षा न रखो।' प्रकृतिके घरमें अँधेर नहीं, जो बिना माँगे मिलेगा ही नहीं, अपितु निःस्वार्थ साधनाके कारण अधिक ही मिलेगा। 'फल अवश्य मिलता है', इस भावनासे भी कार्य न करे; क्योंकि यह भी परम्परया फला-सक्ति हो जाती है।

साधनाओंको आगे बढ़ानेके लिये यह परम आवश्यक है कि साधनामें अहंकार न हो। 'मैं ऐसी व इतनी अच्छी साधना करता हूँ कि दूसरा वैसी कर नहीं सकता, वह मेरी तुलनामें करता ही क्या है ?' जब भी ऐसा अहंकार हृदयमें विदित होगा, आगे बढ़ना रुक जायगा, वहींसे पतन प्रारम्भ हुआ समझिये। जबतक वह यह मानता है कि 'अभी चलना बहुत दूर है,' अभी पहुँचा ही कितनी दूर हूँ। अमुक महापुरुषने कैसी जबरदस्त साधना की, उसके सामने मेरी साधनाका ठिकाना ही क्या है ?' ऐसा विचार करनेसे तबतक वह अपनेमें कमी अनुभव करेगा और उस कमीको मिटाकर आगे बढ़नेका प्रयत्न भी करेगा। जहाँ अहंभाव आया कि बेपरवाही आयी। अहंमें क्रोधादि दोष आ बढ़ते हैं। गाड़ी पटरीसे नीचे उतर जाती है, फिर पतनका क्या ठिकाना ! जहाँ कहीं उसको सम्भालनेवाला साधन नहीं मिलेगा वहीं पतनोन्मुख हो लुढ़कता ही जायगा। चढ़नेमें देर लगती है, प्रयत्न करना पड़ता है पर गिरना तो सहज ही होता है, तुरंत होता है। एक पत्थरको ऊपर चढ़ानेमें कितना समय व शक्ति लगती है, विचारें; पर गिरनेमें सेकन्ड भी न लगेगा।

साधनाका उद्देश्य साकारसे निराकारकी ओर बढ़ना है और उसकी पूर्णतातक पहुँच जाना है। साधन, भजन साकार होता है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो साधनासे निराकार भी साकार हो जाता है। आरम्भमें जो सिद्धि हमारे लिये अगम्य और अगोचर होती है, वही साधनाके द्वारा अनुभवगम्य व दृष्टिगोचर हो जाती है।

जब कल्पनाके पंख लग जाते हैं, तब कल्पना साकाररूप धारण कर लेती है। जो विचारके रूपमें था, वह प्राप्त होनेपर प्रत्यक्ष साकार हो जाता है। असाध्य सुसाध्य एवं असम्भव सम्भव हो जाता है।

प्रत्येक कर्मकी कुशलता साधनपर अवलम्बित है। संगीतको ही लीजिये। कई वर्षोंके सतत प्रयत्नके पश्चात् साधनाके स्वर एवं वादनकी कुशलता प्राप्त होती है तो फिर आध्यात्मिक साधना बहुत बड़ी और ऊँची वस्तु है। इसके लिये तो और भी अधिक तल्लीनता तथा प्रयत्नकी अपेक्षा व आवश्यकता होगी ही।

संक्षेपमें, सारांश यही है कि सिद्धि चाहिये तो साधना करते रहिये। फलकी आकाङ्क्षा न करें, वह तो मिलेगा ही। सफलता कम मिले या बिलकुल न मिले तो भी धीरज रखिये। प्रत्येक कार्य समय पाकर ही सफल होता है।

साधनामें मनका योग

मनकी तरंगोंको रोकनेमें बड़ा सुख है, इनके बिना रोके मनुष्य बह जाता है, जैसे हवाके झोंकोंसे बिना पतवारकी नाव।

मन पाँच प्रकारके होते हैं—(१) मुर्दा मन, जैसे नास्तिकोंका; (२) रोगी मन, जैसे पापियोंका, (३) अचेतन मन, जैसे पेटभरोंका, (४) उलटा मन, जैसे ब्याजकी कमाई खानेवालोंका और (५) स्वस्थ मन, जैसे संतोंका।

—पारस भाग

जो सच्चे हृदयके साधु होते हैं, वे मनको पीसकर चाले हुए मैदेकी भाँति कर देते हैं, जिसमें मान या गर्वकी किरकिरी नहीं रह जाती।

× × × ×

जो वस्तु तुम्हारे मनको अच्छी लगती है, उसे छोड़ दो और जो चीज अच्छी नहीं लगती, उसपर प्रेम करो। यह तप हमेशा चालू रक्खो।

—जेकब बहोमी

वृद्धावस्था—जीवनका स्वर्णिम काल !

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'The best is yet to be, The last of life, for which the first was made.'

—Browning

'जीवनका सर्वश्रेष्ठ, पूर्ण परिपुष्ट समय अभी आनेवाला है। यह वह पूर्ण परिपक्व अवस्था होगी, जिसके लिये प्रारम्भिक जीवनसे ही तैयारी होती रही है।'

मनुष्यके जीवनका सर्वश्रेष्ठ भाग उसकी वृद्धावस्था है। ब्राउनिंगकी दृष्टिमें 'वृद्ध'का अर्थ क्या है ? 'वृद्ध' वह है, जो वृद्धिको प्राप्त है, अर्थात् पूर्ण विकसित, सशक्त, समृद्ध और अनुभवमें आगे बढ़ा हुआ। वृद्धका वास्तविक अभिप्राय है, उस व्यक्तिसे जो साधारण मनुष्यकी अपेक्षा विद्या, बुद्धि तथा अनुभवमें समुन्नत है, जिसने अनुभवकी पाठशालामें अपना आत्मविकास किया है, जिसकी पीठपर योग्यताओं तथा दीर्घकालीन अनुभवोंका धन है।

वृद्ध वे विकसित व्यक्ति हैं, जिनके बाल सांसारिक, बौद्धिक, मानसिक और नैतिक योग्यताओंको संचित करनेमें सफेद हुए हैं, जो अबतक अपनी गुप्त शक्तियों, सामर्थ्यों, क्रियाशीलता, चेतना, जागरूकता, श्रद्धाको सांसारिक प्रलोभनोंके सम्मुख अडिग रखे हुए हैं। वे अपरिपक्व युवकोंकी अपेक्षा क्रिया, बुद्धि, प्रतिभा, योग्यता और विचारशक्तिमें आगे हैं।

वृद्ध होना—तत्त्वतः एक सम्माननीय एवं गौरवशालिनी अवस्था है। समाज उनके अनुभवका सम्मान करता है। जो सांसारिक कमजोरियाँ या असावधानियाँ कम आयुमें आम तौरपर पायी जाती हैं, वृद्ध उनसे दूर रहते हैं। वह उस कुशल नाविकके समान है, जिसने भयंकर आँधी-तूफानमें स्थिरतापूर्वक चलना सीखा है, जो क्षणिक बवंडरोंसे न डरता है, न घबड़ाता है; अपितु जो परम निर्भय होकर कर्तव्यपालन करता है तथा किसी भी भय, चिन्ता या क्लेशसे डरकर अपने निश्चित कार्यक्रमसे च्युत नहीं होता, जिसमें अदम्य उत्साह है तथा जो दृढ़, मजबूत और चट्टानके समान सुस्थिर है। ऐसा दृढ़ निश्चयी नाविक किस तूफानकी परवा करेगा ?

संसारके फल, वृक्ष, जन्तु जगत्को देखिये, सर्वत्र परिपक्वावस्था सर्वोत्तम होती है। कच्चे फलको कोई नहीं पूछता, कच्चे वृक्षसे कब इतना मजबूत काम हो सकता है, जितना परिपक्व वृक्षसे होता है। छोटा कमजोर पशु किस काम आयगा भला ? जब फल पक जाता है, तभी उसमें सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। वह मधुर बन जाता है, उसे देखकर मन ललचा जाता है। बीजका दाना तभी पूर्ण गुणयुक्त होता है, जब वह पक जाता है। लकड़ी कामकी तभी बनती है, जब वह पककर मजबूत हो जाय। इसी प्रकार मनुष्य भी अपने आधे जीवनमें जब विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, बल, सामर्थ्य एकत्रित कर लेता है, धीरे-धीरे सांसारिक अनुभव पाकर परिपक्व बनता है, तब तीसरेपनमें उसके पकनेका समय आता है और वृद्धावस्थामें वह पूर्णता (Perfection) प्राप्त करने लगता है। उस समय उसका ज्ञान तथा अनुभव, विचार और संकल्प अधिक परिपुष्ट और महत्त्वपूर्ण होते हैं। उस अनुभवके सहारे वह स्वयं अपना जीवन सुखी बनाता तथा नयी पीढ़ीका पथ भी प्रशस्त कर सकता है।

एक पत्रिकामें प्रकाशित इन मूल्यवान् विचारोंकी सचाई प्रत्यक्ष है। देखिये—क्या सर्वश्री पं० जवाहरलालजी नेहरू, अबुलकलाम आजाद, लालबहादुर शास्त्री, बल्लभभाई पटेल तथा पंतजीकी कर्मेन्द्रियाँ वृद्धावस्थाके कारण शिथिल नहीं हो गयी थीं ?

हमारे देशके भूतपूर्व राष्ट्रपति सर्वश्री राजेन्द्रप्रसाद-जी, डॉ० राधाकृष्णन तथा श्रीगिरि महोदयके मस्तिष्क, विचारों व संकल्पशक्तिपर वृद्धावस्थाका कोई प्रभाव पड़ा, जो देशकी तकदीर इन वृद्धोंके हाथोंमें सौंप दी गयी थी ?

वास्तवमें मानव-मस्तिष्क कभी वृद्ध नहीं होता। अनुभवसे प्राप्त हुई योग्यता कभी नष्ट नहीं होती। अतः विश्वमें चोटीके जिम्मेदारीके पद सुशिक्षित विद्वानों, उत्कृष्ट विचारकोंके हाथोंमें ही रही है और उन्होंने अपनी नैतिक जिम्मेदारी अच्छी तरह निभायी है।

प्रायः वृद्धजन दुर्भाग्यसे अपने-आपको दीन-हीन, अशक्त और दुर्बल समझते हैं। उनकी हीनत्व-भावना उन्हें पीछे रखती है। वे हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहते हैं, किसी कामको हाथमें नहीं लेते, आलस्यमें दिन गुजारते रहते हैं। परिवारके सदस्योंसे बेमतलब लड़ते-झगड़ते या उनके लिये समस्याएँ उत्पन्न करते रहते हैं। इस प्रकार बैठे—ठाले उनकी परिपक्व सृजनात्मक शक्तियाँ धीरे-धीरे क्षीण पड़ जाती हैं। जैसे जंग लगनेसे पुराना लोहा बेकार हो जाता है, वैसे ही अनेक वृद्धोंकी उत्तमोत्तम शक्तियाँ क्षीण पड़ जाती हैं। समाज-देश-परिवारको उनसे कोई लाभ नहीं होता।

वृद्धोंको हीन भावना त्यागकर अपने-आपको किसी परिवार या समाजके हितकर कार्यमें लगा देना चाहिये। उन्हें परिवारके छोटे बच्चोंको सुशिक्षित बनाने, घरकी जरूरी दैनिक वस्तुएँ खरीदने, सामाजिक रिश्तोंको पूरा करने, पुराने मित्रोंसे सम्पर्क रखनेमें जीवनका सदुपयोग करना चाहिये।

सम्पन्न वृद्धोंको चाहिये कि जनताकी सेवा, समाजोत्थान, पिछड़ी जातियोंके उत्थान, शिक्षा, मार्ग-दर्शन, नारी-विकास, अनाथालयों, अबलाश्रमों और बीमारोंकी सेवाके कार्यमें संलग्न हो जायँ, जिससे उनका समय भी उपयोगी तरीकेसे कटता रहे और सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो। उनके पास अनुभवका विशाल खजाना होता है। जिन्दगीके कंकरीले-पथरीले कँटेदार रास्तोंपर चलनेका अनुभव होता है। उन्हें अपने-अपने कड़ुवे-मीठे अनुभवोंसे नयी पीढ़ीका सही मार्ग-दर्शन करना चाहिये।

कुछ वृद्ध इसलिये अशान्त और उद्विग्न हो उठते हैं कि नयी पीढ़ीके लोग उनके दृष्टिकोणको नहीं समझते और उनकी उपेक्षा करते हैं। मानवकी कमजोरी है कि वह अपनी बुद्धि, योग्यता, शक्तिको दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझता है। जबतक ठोकर नहीं लगती, तबतक वही सम्हलना या दिशा-परिवर्तन करना नहीं चाहता। अतः अपना दृष्टिकोण युवकोंपर थोपना नहीं चाहिये। यदि युवक आपके अनुभवसे सहमत न हों तो उन्हें स्वयं तजरबा करके देखनेके लिये छोड़ देना चाहिये।

परम प्रभुकी इच्छा है कि हमारा जीवन पूर्ण बने, समग्र रहे। परमेश्वर मानो कहते हैं, 'मैंने मानव-जीवन-को सर्वाङ्गपूर्ण (A whole) बनाया है। यौवन तो आधा अङ्गमात्र है, परिपक्वता तो वृद्धावस्थामें ही आती है। समग्र जीवनको देखो। अन्तिम भाग ही सर्व-श्रेष्ठ है। उसका स्वयं आनन्द लो तथा आनेवाले लोगोंका पथ-प्रदर्शन करो।'

यौवन-समाप्तिके साथ हमारा सांसारिक संघर्ष समाप्त होता है। हमारा प्रारम्भिक जीवन अशान्ति, दुःख, चिन्तामें बरबाद होता है। इसमें हमसे असाव-धानियाँ और त्रुटियाँ भी बहुत होती रहती हैं, लेकिन वृद्धावस्था आध्यात्मिक विकास करने—स्वाध्याय, धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करने और संसारसे जाते हुए कुछ अनुभव देनेका समय है। वृद्ध श्रद्धा और आदरके पात्र हैं। वे समाजके शिरमौर, अनुभवके भंडार तथा

नर-देवके रूपमें देखे जाते हैं। वृद्धको देखकर हमारा सिर श्रद्धा और आदरसे नत हो जाता है। उनकी वाणीमें अनुभवकी पृष्ठभूमि होती है। उनकी वाग्धारामें प्रेम, सहानुभूति तथा वात्सल्यसे सना हुआ हृदय बोलता है।

जीव-विज्ञानवेत्ताओंने मानव-जीवनकी सीमा नब्बे वर्षोंकी निर्धारित की है और उसे तीन समान भागोंमें विभाजित किया है—प्रथम तीस वर्ष विकासके लिये, द्वितीय तीस वर्ष पूर्ण ज्ञान, शक्ति तथा अनुभव एकत्र करनेके लिये और अन्तिम तीस वर्ष पूर्ण परिपक्वताके लिये। उन्होंने यौवनकी समाप्ति चालीस वर्षोंके उपरान्त मानी है। अमरीकामें वृद्धावस्थाका प्रारम्भ पैंसठ वर्षके बाद समझा जाता है। वास्तवमें मानव-जीवन अनन्त है। वह एक अविराम प्रवाहके रूपमें अनवरतरूपसे प्रवाहित हो रहा है। आप उम्र बढ़नेसे थकानका अनुभव न करें।

सुख कामना-पूर्तिमें नहीं, कामनाके त्यागमें है

(लेखक—श्रीकन्हैयालालजी लोढ़ा)

संसारके सभी प्राणी सुख चाहते हैं। उनका प्रत्येक प्रयत्न सुखके लिये होता है। मानव भी प्राणी है और वह बचपनसे ही सुख-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है। वह सोचता है कि मेरी अमुक-अमुक कामनाएँ पूरी हो जायँगी तो मैं सुखी हो जाऊँगा। यथा—एक गरीब व्यक्ति सोचता है कि मैं लखपति हो जाऊँ तो सुखी हो जाऊँगा और वह प्रयत्न करके लखपति बन भी जाता है, परंतु देखा जाता है कि लखपति हो जानेपर भी वह सुखी नहीं हो पाता। इसी प्रकार लखपति सोचता है कि मैं करोड़पति हो जाऊँ तो सुखी हो जाऊँगा; परंतु वह भी करोड़पति हो जानेपर भी सुखी नहीं होता। इसी प्रकार कार, बंगला आदिकी कामना-पूर्तिको भी ले सकते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपने ही बचपनके जीवनपर दृष्टि डाले तो दीखेगा कि उस समय सुखी होनेके लिये जो कामनाएँ की थीं, उनमेंसे अधिकांश पूर्ण हो चुकी हैं; परंतु उन कामना-पूर्तियोंसे सुखमें कोई वृद्धि हुई हो, ऐसा नहीं। उससे पूछा जाय कि 'तुम बचपनमें या आजसे दस वर्ष पूर्व अधिक सुखी थे या आज ?' तो उत्तर मिलेगा कि मैं बचपनमें या आजसे दस वर्ष पूर्व ही अधिक सुखी था।

आशय यह कि प्रत्येक व्यक्तिकी अनेक कामनाओं-की पूर्ति होती है। एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसकी कोई भी कामना पूरी नहीं हुई हो; परंतु उस कामना-पूर्तिसे उसके सुखमें वृद्धि हुई हो, ऐसा नहीं देखा जाता। इससे यह परिणाम निकलता है कि 'सुख कामना-पूर्तिमें है', यह मान्यता मिथ्या है। सचाई यह है कि सुख कामना-पूर्तिमें नहीं, प्रत्युत कामनाके परित्यागमें है।

विवेचन—कामनाके उत्पन्न होते ही चित्त प्रायः अशान्त हो जाता है, चित्तकी अशान्ति दुःख ही है। यह अशान्ति तबतक रहती है, जबतक कामना-पूर्ति नहीं होती। जब कामना पूर्ण हो जाती है, तब उस व्यक्तिको सुखानुभूति होती है और वह समझता है कि उसका वह सुख कामना-पूर्ति होनेसे ही मिला है; परंतु उसकी यह समझ भ्रान्ति है; कारण कि कामना-पूर्ति-हेतु प्राप्त वस्तु अब भी उसी प्रकार उससे अलग है, जैसे पहले थी। अब केवल उस

व्यक्तिमें उस कामनाकी पूर्ति न होनेका दुःख नहीं रहा अर्थात् कामना न रही, अतः सुख कामना न रहनेसे मिला । परंतु कामनाकी पूर्ति और कामनाका अभाव युगपत् (एक साथ) होता है । इसलिये यह भ्रम हो जाता है कि सुख कामना-पूर्तिसे मिला । यदि सुख कामना-पूर्तिके रूपमें प्राप्त वस्तुसे मिलता तो वह सुख उस वस्तुके रहते बराबर मिलना चाहिये; परंतु यह सर्वविदित है कि कामना-पूर्तिजनित सुख प्रतिक्षण क्षीण होता है और एक स्थिति ऐसी आती है कि उस वस्तुसे जनित सुख सूख जाता है तथा जीवनमें नीरसता आ जाती है । नीरसतासे मानव ऊबता है और सुख-प्राप्तिके लिये फिर नयी कामना पैदा करता है । इस नयी कामनाका भी यही परिणाम होता है, जो पूर्व कामनाका हुआ था, अर्थात् यह नयी कामना पूरी होती है और उससे प्राप्त सुख सूखकर नीरसता आ जाती है । फिर नीरसता नयी कामनाको जन्म देती है । इस प्रकार कामना-उत्पत्ति-पूर्तिका चक्र चलता रहता है । यह चक्र अनादि कालसे चल रहा है । इस चक्रका कारण है—कामना-पूर्तिसे प्राप्त वस्तुमें सुख मानना ।

उपर्युक्त तथ्यको हम एक उदाहरणसे समझें—

कल्पना करें कि एक व्यक्ति 'क' अध्यापक है । वह बड़ी शान्तिसे बैठा है । इसी समय उसका सहपाठी पुराना मित्र कारमें बैठकर आता है और बातचीतके सिलसिलेमें बतलाता है कि वह किस प्रकार व्यवसायसे करोड़पति बन गया है । यह सुनकर 'क'के मनमें विचार आता है कि मुझसे कम योग्यतावाला यह व्यक्ति सेठ बन गया है, कारमें ठाटसे घूमता है । मैं कैसा अभागा हूँ कि इससे अधिक योग्यतावाला होता हुआ भी दरिद्र हूँ; आने-जानेके लिये मेरे पास कारकी तो बात दूर रही, स्कूटर भी नहीं है । उसके मनमें विचार आता है कि मुझमें मेरे मित्र 'ख'से अधिक योग्यता है । मैं भी धन कमाऊँगा, कार लाऊँगा । फिर तो उसमें कार-प्राप्तिकी कामना उत्पन्न होते ही उसका मन अशान्त हो गया । चित्त विक्षुब्ध हो गया । अब उसे कारका अभाव खटकने लगा । जो 'क' कारकी कामना उत्पन्न होनेसे पहले शान्त तथा सुखी बैठा था अब वह कारकी कामनाकी उत्पत्तिसे दुःखी हो गया । फिर उसने अथक परिश्रम किया । अनेक कष्ट सहन किये और धन कमाया । उसने कार-प्राप्तिके लिये इंडे लगाया । छः मास पश्चात् उसको कार आनेका नम्बर आया । कम्पनीने सूचना दी कि आप चार-पाँच दिनोंमें पैसे जमा कराकर कार ले जायँ । इस सूचनासे उसका हृदय प्रफुल्लित हुआ, उसे सुख हुआ । विचारणीय बात तो यह है कि 'क'ने अभीतक प्राप्त होने-वाली कार देखीतक नहीं है और न किसी कारपर उसका स्वामित्व हुआ है, अभी तो कार कम्पनीके गैरेजमें जहाँ-की-तहाँ पड़ी है, फिर भी उसे सुख हो गया । यदि कार-प्राप्तिमें सुख होता तो कारकी प्राप्ति होनेपर ही सुख होना चाहिये था, पहले नहीं । बिना कारकी प्राप्तिमें सुख होना यह बतलाता है कि सुख कारकी प्राप्तिमें नहीं है, प्रत्युत उसकी खयंकी कल्पनामें अर्थात्—'कारकी कामनाके अभाव'में है ।

चार दिन बाद पैसे जमा करके वह कार ले आया तो ड्राइवरसे कहा कि शहरमें धीरे-धीरे कार चलाना । कारमें बैठकर कपड़ेके मित्रकी दूकानके सामने पहुँचते ही कार रुकवायी और कपड़े खरीदनेके बहाने अंदर गया । मित्रने कार देखकर प्रशंसा की तो 'क' फूलकर कुप्पा हो गया । इसी प्रकार अपने अन्य मित्रोंके यहाँ भी किसी-न-किसी बहाने पहुँचा और उनके मुखसे प्रशंसा सुनकर फूला न समाया । उसके हर्ष या गर्वका पारावार न रहा ।

परंतु दूसरे दिन फिर कारमें बैठकर बाजारमें गया तो कल—जितना सुख आज न रहा । यहाँतक कि

दस-पंद्रह दिनोंमें तो वह सुख घटकर उसकी सामान्य स्थितिमें आ गया। केवल उतना ही सुख रह गया, जितना कभी साइकिलके आनेपर हुआ था।

विचारना यह है कि कार वही है और कारका स्वामी भी वही है, फिर सुख सामान्य कैसे हो गया? क्यों अब उसके हृदयमें गुदगुदी नहीं होती। इससे यह परिणाम निकलता है कि सुख कारकी प्राप्तिमें भी नहीं है। यदि कारकी प्राप्तिमें होता तो वह अब भी होता।

'क' अपने कार्यालयमें बैठा है और कार किसी मेहमानको लेने स्टेशन गयी है और वहाँ कारमें किसी प्रकार आग लग जाती है और कार जल जाती है, कार न रही; परंतु 'क' को अबतक कोई सूचना नहीं मिली, अतः उसे कोई दुःख नहीं हुआ। यदि कारके न होनेसे 'क'को दुःख होता तो कारके जलते ही दुःख होना चाहिये था। इससे यह परिणाम निकलता है कि कारके न होनेसे 'क'के दुःखका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अतः यह परिणाम निकलता है कि कामनाकी पूर्तिसे प्राप्त सम्बन्धित वस्तु या पदार्थके साथ सुखका कोई सम्बन्ध नहीं है। सुखका सम्बन्ध मनमें रहे हुए राग-द्वेषमयी मान्यतासे है और कामनापूर्तिसे होनेवाला सुख कामनाके न रहनेसे कामनाके अभावसे हुआ है। उसकी उस समय वही स्थिति हो गयी, जो कामना-उत्पत्तिसे पूर्व थी अर्थात् कामनाका अभाव हो गया। कामनाके अभाव होनेसे चित्त शान्त हो गया। चित्तकी शान्तिसे सुख मिला।

तात्पर्य यह है कि सुख कामनापूर्तिमें नहीं है— कामनाके परित्याग या अभावमें है।

(२)

कामना—दुःखका मूल है। कामनापूर्तिमें सुख तो है ही नहीं, साथ ही कामनापूर्ति तथा इन्द्रियजन्य सुख ही संसारके समस्त दुःखों और बुराइयोंको उत्पन्न करनेवाला भी है। यथा—

(१) सुख-क्षीणता, (२) शक्ति-क्षीणता, (३) अभाव, (४) जड़ता (मूर्च्छा), (५) आकुलता, (६) पराधीनता, (७) नश्वरता, (८) नीरसता, (९) अतृप्ति, (१०) रोगोत्पत्ति, (११) वियोग-का दुःख आदि उत्पन्न करता है।

सुख-क्षीणता—इन्द्रिय-सुख प्रतिक्षण क्षीण होता है। ऊपरके उदाहरणमें ही कारके मिलनेका जो सुख तत्काल मिला, वह सुख एक घंटे पीछे न रहा। दूसरे दिन पहले दिन-जितना न रहा और अन्तमें वह कार उसके नित्य-प्रतिके उपयोगकी सामान्य वस्तुमात्र रह गयी और कारसे मिलनेवाला सुख सूख गया। इस प्रकार कारका सुख क्षण-प्रतिक्षण घटता ही गया।

दूसरा उदाहरण लें। एक गरीब व्यक्ति तीन दिन-का भूखा है, उसे किसीने निमन्त्रण दिया और बादामका हलवा परोसा। उसने जिंदगीमें कभी हलवा ही नहीं खाया था। अतः उसे बादामका हलवा बड़ा स्वादिष्ट लगा, बड़ा सुख हुआ। परंतु ज्यों-ज्यों ग्रास लेता गया त्यों-त्यों सुखमें कमी होती गयी और एक ऐसी स्थिति आ गयी कि कोई उसे हलवा परोसना चाहता है तो वह 'ना' करता है। फिर भी उसे यदि जबरदस्ती हलवा खिलाना चाहता है तो उसे बुरा लगता है, दुःख होता है।

इसी प्रकार खानेवाला व्यक्ति वही है और हलवा भी वही है, फिर भी धीरे-धीरे सुख समाप्त हो गया।

यहीं यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि 'उसका पेट भर गया, इसलिये उसका सुख मिट गया है,' अतः यह बात सर्वत्र कैसे लागू हो सकती है?

इस प्रश्नके समाधानके लिये हम श्रोत्रेन्द्रियके विषय सुख, संगीत या राग-रागिनियोंको लें। किसी गायिका-की मधुर ध्वनिका एक रेकार्ड भरा हुआ है, उसे सुनते ही चित्त प्रफुल्लित हो गया। फिर दुवारा वही रेकार्ड सुनाया गया तो उतना सुख न हुआ, इसी प्रकार तीन वार, चार वार, पाँच वार, छः वार सुनाते-सुनाते यदि पचास वार सुनाया जाय तो अपनी प्रिय गायिकाके कण्ठकी वही मधुर ध्वनि सुननेमें नीरस लगने लगेगी। यद्यपि उस ध्वनिके वार-वार सुननेसे कान भर नहीं गये हैं, उसने कानमें जगह नहीं रोकी है। फिर भी वही ध्वनि और वही सुननेवाला होनेपर भी कानमें वजन न वढ़ने तथा स्थान न घेरनेपर भी सुखका समाप्त हो जाना—इस वातका द्योतक है कि इन्द्रिय-सुख प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है।

इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रियके विषयको लें—एक व्यक्ति विदेशसे हजारों रुपये किरायेमें व्यय करके ताजमहल देखने आया। वह ताजमहलकी पत्थरकी पच्चीकारीको देखकर दंग रह गया। अपनेको वड़ा सुखी अनुभव किया; परंतु धीरे-धीरे ताजमहलके सौन्दर्यका वह सुख धीमा पड़ गया, घटता गया। छः-सात घंटे पश्चात् ताजमहलको देखते-देखते वह ऊव जायगा और उसे वहाँ ठहरना या ताजमहलको देखना पसंद न आयगा।

ताजमहल वही, देखनेवाला भी वही व्यक्ति और ताजमहल देखनेसे न उसकी आँखोंमें स्थान भरा, न आँखें देखनेसे थकीं; क्योंकि आँखें तो अभी भी दूसरी वस्तुएँ देख ही रही हैं, फिर भी उसका देखनेका सुख समाप्त हो गया। यही तथ्य घ्राणेन्द्रियके विषय-सुख गन्ध, स्पर्शेन्द्रियके विषय-सुख कोमलता, मृदुता, शीतलता, उष्णता आदिपर भी घटित होता है, अर्थात् विषय-सुख प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है।

शक्ति-क्षीणता—इन्द्रिय-सुखमें इन्द्रिय और मन-वचन-कायाकी प्रवृत्ति कार्य करती है। यह नियम है कि प्रत्येक प्रवृत्तिमें शक्तिका उपयोग होता है, इससे शक्ति क्षीण होती है। यही कारण है कि विषय-सुखको भोगते-भोगते इन्द्रिय, मन आदि भी थक जाते हैं।

अभाव—ऐसा कभी नहीं होता कि किसीकी सभी कामनाएँ पूरी हो जायँ। जो कामनाएँ पूरी नहीं होतीं, उससे सम्बन्धित वस्तुके अभावका दुःख सदा बना ही रहता है अर्थात् कामनाके अपूर्ति-जनित अभावका दुःख संसार-अवस्थामें सदा रहता ही है।

जड़ता (मूर्च्छा)—कोई भी कामना मोह-मूर्च्छा-ग्रस्त हुए विना उत्पन्न नहीं हो सकती। उस मोह या मूर्च्छासे व्यक्ति अपना भान भूल जाता है। अपने चिन्मय-स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है। कामनाकी जितनी तीव्रता होती है, उतनी ही गहरी विस्मृति होती है। अपना भान भूलना या स्वरूप-विस्मृति, मूर्च्छाभाव या जडताका ही द्योतक है। यह जडता ही विषय-भोगमें सुखानुभूति कराती है—जैसे शरावीको शरावसे वेहोशीकी अवस्थामें सुखानुभूति होती है।

आकुलता—कोई भी व्यक्ति-उसकी कोई इन्द्रिय जवतक विषयप्रवण नहीं होती, तवतक वह इन्द्रियका सुख नहीं भोग सकता। इन्द्रियकी विषयोन्मुखता शान्ति-को भंग कर चित्तको अशान्त एवं व्याकुल बनाती है। परंतु जडता या मोह-मूर्च्छाके कारण प्राणी उस आकुलता-व्याकुलताका अनुभव नहीं करता और सुखका अनुभव करता है।

पराधीनता—'क'को कार मिली, उससे वह उसमें वैठनेका आदी (व्यसनी) हो गया। अव उसे साइकिलपर वैठकर या पैदल जानेको कहा जाय तो उसे वड़ा अटपटा लगेगा—दुःख होगा। अव वह जानेके लिये कारके

अधीन हो गया। कार इधर-उधर गयी तो उसका घरके बाहर जाना कठिन हो गया। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय-जन्य सुख वस्तुके अधीन अर्थात् पराधीन बनाता है।

नश्वरता—जिन पदार्थोंसे विषय-सुख मिलता है, वे सभी नश्वर हैं। जब पदार्थ ही नाशवान् हैं तो यह भी स्वाभाविक ही है कि उससे मिलनेवाला सुख भी क्षणिक ही होगा।

नीरसता—हम ऊपर कारके द्वारा क्षणिक सुखके उदाहरणमें तथा भोजन, संगीत, दृश्य—ताजमहल आदिके उदाहरणोंमें देख चुके हैं कि इन्द्रियजनित सुख प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है और उस सुखका अन्त नीरसतामें होता है। मन उससे ऊब जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियजनित सभी सुख मनको उबानेवाले हैं। यहाँतक कि नव-दम्पति, जिनका आज ही विवाह हुआ है और वे वर-वधू परस्पर अत्यन्त स्नेह रखते हैं, उनका भी परस्पर मिलन आदिसे मिलनेवाला सुख कुछ ही घंटोंमें सूख जाता है।

अतृप्ति—कामनापूर्ति या विषय-सुखको जितना भोगा जाता है, व्यक्ति उसका आदी हो जाता है। तो फिर सुख पानेके लिये नयी कामनाकी उत्पत्ति होती है। परंतु भोगसे तृप्ति हो जाय और जिससे फिर नयी कामनाकी उत्पत्ति न हो, ऐसा सम्भव नहीं है।

रोगोत्पत्ति—विषय-सुखमें आसक्त व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंके साथ अतिरेक करता है, जैसे स्वादके सुखमें आसक्त व्यक्ति भूखसे अधिक खाता है, पेट ठूँस-ठूँस-कर भरता है, वह न खाने योग्य वस्तु खाता है। सिनेमा देखनेके सुखमें आसक्त व्यक्ति अपनी नींद और आँखें खराब होनेकी परवा नहीं करता है। इस प्रकार इन्द्रिय-सुखमें आसक्त व्यक्ति अकरणीय—शास्त्रनिन्द्य कार्य करता है। प्रकृति इसे सहन नहीं कर पाती और प्राकृतिक नियमानुसार रोगोत्पत्तिके रूपमें उसे दण्ड मिलता है; अर्थात् दण्डके रूपमें रोगोत्पत्तिका दुःख मिलता है।

वियोगका दुःख—प्राकृतिक नियमानुसार जिसका संयोग होता है, उसका वियोग अवश्यम्भावी है। कारण, वस्तु परिवर्तनशील है, अतः या तो वह वस्तु नष्ट हो जायगी अथवा उसके स्वामी साथी या भोक्ताकी मृत्युके कारण एवं अन्य किसीके कारणसे उसे अलग होना पड़ेगा।

यह नियम है कि प्राणी जिस वस्तुके संयोगमें जितना अधिक सुख मानता है, उसे उसके वियोगमें उतना ही अधिक दुःख होता है। इस प्रकार संयोग-जनित विषय-सुखका अन्त वियोगजनित दुःखमें ही होनेवाला है।

सारांश यह है कि दुनियाका कोई भी दुःख ऐसा नहीं, जिसकी जड़ विषय-सुख न हो। यह प्राकृतिक नियम है कि सुखके भोगीको दुःख भोगना ही पड़ता है।

वस्तुतः तथ्य तो यह है कि विषय-सुख कामना-उत्पत्ति-पूर्ति तथा फल—ये सब दुःखमय और दुःख-जनक हैं।

इसी सुखके कारण राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होते हैं, जिनसे जन्म-मरणरूप भव-चक्र चलता है और जिसके फलस्वरूप प्राणी अनन्तकालसे दुःखी हो रहा है।

अतः कामनात्यागमें ही बुद्धिमानी है।

परमार्थकी पगडंडियाँ

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

जीवनको लक्ष्यकी सिद्धिमें लगाओ

मनुष्य-जीवन सचमुच बड़ा दुर्लभ है, यह व्यर्थ खोने या पाप कमानेके लिये नहीं मिला है। इसका यथार्थ सदुपयोग करो। उसके एक-एक क्षणको भगवान्‌के चिन्तनमें लगा दो। मत भूलो यहाँके धन-जन, विद्या-बुद्धि, सम्मान-सत्कार, प्रभुत्व-अधिकार और मेरे-तेरेके मोहमें। जीवन बीता जा रहा है। जबतक मृत्यु नहीं घेरती, इन्द्रिय और मन काम देते हैं, तभीतक कुछ कर सकते हो। बड़ी लगनसे लगा दो मनकी प्रत्येक वृत्तिको, शरीरकी प्रत्येक क्रियाको, इन्द्रियकी प्रत्येक चेष्टाको श्रीभगवान्‌के भजनमें।

यहाँकी मान-बड़ाई, धन-वैभव, यश-कीर्ति और प्रभुत्व-अधिकारको तुमने प्रचुर रूपमें प्राप्त भी कर लिया तो क्या होगा उससे। तुम्हारे साथ जायगा केवल तुम्हारा कर्म-संस्कार। इनमेंसे कोई भी न तो तुम्हारा साथ देगा, न तो तुम्हारा सहायक होगा। तुम्हारा जीवन व्यर्थ चला जायगा। व्यर्थ ही नहीं, जागतिक लाभकी कामनासे जो पाप-कर्म तुमसे बन रहे हैं, इनका बोझ तुम्हारे साथ जायगा जो असंख्य जन्मोंतक तुम्हें कष्ट देता रहेगा। अतएव जल्दी सावधान हो जाओ। मानव-जीवनके वास्तविक लक्ष्यको समझो और जीवनके प्रत्येक क्षणको उसीकी सिद्धिमें लगा दो।

परम सौभाग्य और सच्ची लोक-सेवा

जो स्वयं भगवान्‌की सेवामें लगा है तथा अपने आचरणसे दूसरोंको लगाता है, वह बड़ा भाग्यवान् है और वही प्राणियोंकी सच्ची सेवा करनेवाला है। तुम यदि किसीको ऐसी मीठी चीज खिलाते हो, जिससे वह बीमार होकर मर जाता है तो तुम उसका उपकार-सेवा न करके अपकार तथा कष्ट-दान ही करते हो। भोग सुखरहित, दुःखालय और दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं—*'असुखम्'* (गीता ९। ३३), *'दुःखालयम्'* (गीता ८। १५); *'दुःखयोनयः'* (गीता ५। २२)। अतएव जो भी व्यक्ति, वस्तु और परिस्थिति मनुष्यको परमानन्दस्वरूप भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें लगाती है, वह उसके पतन, भयानक कष्ट, नरक-प्राप्ति और आत्म-विनाशमें कारण बनकर उसके साथ शत्रुताका काम करती है। अतः यदि तुम किसीको भगवान्‌में लगाते हो तो उसकी परम सेवा करते हो; क्योंकि इसीसे उसका भविष्य सुख-सौभाग्यमय, पवित्र, उन्नत होगा और वह अविनाशी पदको प्राप्त होगा। यदि तुम भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें लगाते हो तो तुम उसके प्रति बहुत बड़ा अपराध करते हो; क्योंकि भोगासक्ति मनुष्यके सब प्रकारसे पतनका कारण है। इतना ही नहीं, यदि तुम अपनी चित्तवृत्तिको भी भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें लगाते हो तो अपने साथ भी शत्रुताका ही वर्ताव करते हो; क्योंकि तुम ऐसा करके आप ही अपनेको पतन तथा विनाशके पथपर बढ़ाये ले जाते हो। अतः सावधानीके साथ ऐसा आचरण करो, जिससे तुम स्वयं भोगोंकी ओर न लगकर भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सको और दूसरोंको भी भगवान्‌की ओर लगा सको। इसीमें तुम्हारा सौभाग्य है और इसीमें सच्ची लोक-सेवा है।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

(लेखक—श्रीहरिशंकरजी)

इस सृष्टिमें प्राणिमात्रके जीनेकी समस्या सबसे मुख्य है। इसीको लेकर अन्य सभी समस्याएँ उपस्थित होती हैं। सृष्टिके निर्माणकालसे ही यह समस्या सभी प्राणियोंके सामने है और आदिमकालसे सभी अपने-अपने ढंगसे इसे सुलझाते आ रहे हैं। मनुष्य भी अपने ढंगसे इस समस्याको सुलझानेमें लगा है।

आदिमकालमें जीनेकी इस समस्याके लिये मनुष्यको प्रकृति और अन्य हिंसक प्राणियोंका सामना करना पड़ा था। उस समय मनुष्यके ये ही दो मुख्य शत्रु थे। धीरे-धीरे मनुष्यने विकासकी ओर कदम बढ़ाया। प्रकृतिका सामना करते हुए वह आगे बढ़ता गया। हिंसक प्राणियोंका संहार करनेके लिये उसने शस्त्रास्त्र बनाये। इसके बाद भयानक-से-भयानक प्राणियोंको उसने पराजित कर दिया और स्वयंके 'जीने'की समस्या सरल बनाता रहा।

प्रश्न उठता है कि आज लाखों वर्ष बीत जानेपर भी और मनुष्यकी इतनी प्रगति हो जानेपर भी क्या यह समस्या हल हो सकी है?

मनुष्यने जैसे-जैसे प्रकृति और हिंसक पशुओंको वशमें करनेकी दिशामें थोड़ी-सी सफलता पायी वैसे-वैसे उसकी महत्त्वाकाङ्क्षाएँ बढ़ती गयीं। वह आनेवाले 'कल'की सोचने लगा। वह आज ही नहीं, बल्कि कलके जीनेकी व्यवस्थामें भी लग गया।

मनुष्य ही मनुष्यका शत्रु

यहींसे मनुष्य-मनुष्यके संघर्षकी कहानी शुरू होती है। जिन लोगोंकी आजके 'जीने'की समस्या हल नहीं हुई थी, उन्होंने 'कल'की व्यवस्था करनेवालोंकी संगृहीत वस्तुओंपर अपना हक समझा और उसे प्राप्त करनेके लिये उनसे संघर्ष किया।

अब मनुष्य मनुष्यके ही विरुद्ध खड़ा हो गया। एकने अपनी बुद्धि, चातुरी और परिश्रमसे एक ओर अधिक-से-अधिक सामग्री उपलब्ध करनेकी कोशिश की तो दूसरी तरफ उस प्राप्त सामग्रीको सुरक्षित रखनेकी व्यवस्था भी शुरू कर दी। यहींसे मानव-समाजका इतिहास गढ़ा जाने लगा। मनुष्यने अपने-अपने दल संगठित किये, कबीले बनाये और दूसरोंका मुकाबला करने लगे।

सदियाँ बीतती गयीं। इतिहास आगे बढ़ता गया। मुखिया बने, फिर राज्य और राजा बने। मनुष्य-मनुष्यका संघर्ष चलता रहा, कभी ईश्वरके नामपर, कभी धर्मके नामपर, कभी अपनी प्रतिष्ठा और गौरवके नामपर मनुष्य मनुष्यका खून बहाता रहा, पर मनुष्यके जीनेकी समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। कुछ समझदार लोग हुए। उन्होंने सोचा कि इस तरह समस्या नहीं सुलझ सकती। प्राणिमात्रमें मनुष्य सबसे बुद्धिमान् है। वह सम्पूर्ण प्रकृति तथा अन्य प्राणियोंपर तो अपनी सत्ता कायम कर सकता है, पर अपने आपसे टकराकर वह कैसे जी सकता है? इसलिये उन्होंने कहा—

'ऐ मानव! तू इस बातका ध्यान रख कि जो कुछ तू स्वयं अपने लिये चाहता है, वह दूसरोंको भी मिले।' यही अहिंसाका मूल सिद्धान्त है। उन्होंने यह भी कहा कि मानवजातिका सुख 'आत्मसंयम'में है और यही 'आत्मसंयम' सभी धर्मों और संस्कृतियोंकी जड़ है।

लोक-सेवा

इन समस्त विचारधाराओं, संदेशों, उपदेशोंके उपरान्त भी आजतक मनुष्य ही मनुष्यका सबसे बड़ा

शत्रु है। वह ऐसा नहीं सोचता कि हम अपने ही पूर्वजोंके एक वंशज, अपने ही एक भाई या अपने ही एक नस्लवालेके साथ संघर्ष कर रहे हैं। इस संघर्षमें हम दोनोंमेंसे जो भी नष्ट हुआ वह हम ही, अर्थात् 'मनुष्य' ही तो नष्ट होगा।

अब प्रश्न उठता है कि इस समस्याको कैसे सुलझाया जाय ? अत्यन्त प्राचीन कालसे अनेक महापुरुषोंने हमें यह संदेश दिया है कि इस विश्वको एक कुटुम्ब मानकर सेवाभाव और त्यागपूर्ण जीवन बितानेसे ही सम्पूर्ण मानव-परिवार सुखी हो सकता है। इसीसे हमें सुख, शान्ति और मोक्षकी भी प्राप्ति हो सकती है।

प्राचीन ऋषि-मुनियोंसे लेकर महावीर, बुद्ध, ईसा और गांधी—सभीने हमें यही संदेश दिया है। आज हजारों वर्षोंके उपरान्त भी श्रीराम और श्रीकृष्ण पूजे जाते हैं। इतना ही नहीं, मानवमें देवत्वकी कल्पना करनेवाले साकार ब्रह्मके उपासक भारतीयोंने इन्हें 'परब्रह्म परमेश्वर' मान लिया।

लोककल्याण और लोकसेवाका आदर्श ही मानव-जातिके सुखका परमश्रेष्ठ मार्ग है। हम सारे विश्वको एक कुटुम्ब समझें और अपनी-अपनी सीमा, शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार अपने-अपने ढंगसे मानवकी सेवाको लक्ष्य बनाकर तथा 'जीओ और जीने दो'के सिद्धान्तको अपनाकर अपने जीवनमें आगे बढ़ें।

सेवाके मार्ग

ध्यानमें रखना चाहिये कि लोक-सेवाके अनेक मार्ग हैं। अनेक प्रकारसे हम मानव-जातिकी सेवा कर सकते हैं। ईसा और महात्मा गांधी कुष्ठ रोगियों, बीमारों और गरीबोंकी सेवा करते रहे। बुद्धने सद्विचारोंको जन-जनतक पहुँचाकर लोक-सेवा की। राजा हरिश्चन्द्रसे लेकर सम्राट् हर्षवर्द्धनतक अशोक और अनेक राजा-महाराजोंने धन, सम्पत्ति और वस्त्र-दान देकर लोक-सेवा की है। दधीचिने लोक-कल्याणके लिये अपनी हड्डियोंतकका दान किया। पर इस सेवाकी महत्ता तभी है, जब वह निर्लेप एवं अपरिग्रहके भावसे की गयी हो। यदि आप ईमानदारी तथा अच्छे साधनोंसे आवश्यकतासे अधिक धन कमा लेते हैं और उस कमाये हुए धनसे (धनके रूपमें) मानव-कल्याणके हेतु कुछ खर्च करते हैं तो वह सेवा होगी। अन्यथा आज अनेक लोग 'सेवाका व्यापार' करते हैं। वे अपनी ख्यातिके लिये या समाजमें अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये, अस्पताल खुलवानेके लिये दान देते हैं, पर उसी अस्पतालमें बीमारोंको दी जानेवाली दवाओंमें मिलावट करके धन कमाते हैं। क्या यह सेवा कही जायगी ? इसलिये ध्यानमें रखें—सेवा निष्काम-भावसे हो—उसमें प्रतिदानका भाव न हो। साथ ही सेवाका मूलमन्त्र एक यही हो कि हम किसीके साथ प्रतिकूल आचरण न करें—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

अर्थात् जो बात आप अपने लिये नहीं चाहते और जो आपके हितकी न हो, वैसा व्यवहार दूसरोंके साथ भी मत कीजिये।

समदर्शिता

अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुखतें, घट-घट हौं बिहरौं॥
आपु समान सबै जग लेखौं, भक्तन अधिक डरौं।
'श्रीहरिदास' कृपा ते हरिकी, नित निरभय बिचरौं॥

—स्वामी श्रीहरिदासजी

राग-द्वेष

(लेखक—श्रीसन्तरामजी अग्रवाल)

प्रकृतिने मनुष्यके साथ राग और द्वेष—ये दो ऐसे विकट बन्धन लगा रखे हैं, जिनसे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है। किसी वस्तुसे लगावका नाम राग है और किसीसे उद्विग्न होने या किसीको दुःख पहुँचानेकी प्रवृत्तिका नाम द्वेष है। वैसे देखा जाय तो राग होना उतना बुरा नहीं है; परंतु किसीसे द्वेष क्यों करें ? विचार करनेपर पता चलता है कि यदि कहीं राग होगा तो कहीं द्वेष भी होगा ही। जैसे हर चीजके दो पहलू होते हैं, वैसे ही राग-द्वेष भी एक ही सिक्केके दो बाजू हैं। ये दोनों अपने आस-पासकी परिधियोंमें घूमते रहते हैं। दूरकी चीजें अथवा अप्रत्यक्ष पदार्थोंके प्रति न तो राग होता है और न द्वेष ही। 'जितनी दृष्टि उतनी सृष्टि'—इस न्यायके अनुसार जहाँतक नजर जाती है, वहींतक राग-द्वेष दीखता है। एक आदमी यदि ऐश-आरामसे रहता है तो उसके नजदीकी, जिनके पास उस ऐश-आरामका अभाव होता है, उस वैभववालेके प्रति द्वेष करने लग जाते हैं और जो-जो उस द्वेष करनेवालेके साथी होते हैं, उनकी धीरे-धीरे एक टोली हो जाती है। वे सब मिलकर उस सम्पन्न पुरुष अथवा सम्पन्न परिवारसे द्वेष करने लगते हैं और उन द्वेष करनेवालोंका आपसमें राग-सा होने लग जाता है। यही असमानता राग-द्वेषका कारण है। विचार करनेसे ज्ञात होता है कि यह असमानता प्रकृतिजन्य है। सभी मनुष्य न तो एक-जैसे रूपवान् हो सकते हैं, न बुद्धिमान्, न धनवान् और न बलवान् ही।

व्यक्तिके समान राष्ट्र सामाजिक समानताकी चेष्टामें लगे हुए हैं, यह बहुत अच्छी बात है; क्योंकि मनुष्यकी प्राथमिक आवश्यकता रोटी, कपड़ा और मकानकी है, फिर शिक्षाकी। इन सबमें समानता लाना राष्ट्रका काम है और वे उसमें लगे भी हुए हैं। परंतु जबतक भीतरी असमानता, जो कि दिलोंमें फैली हुई है, शान्त न होगी, तबतक राग-द्वेष बना ही रहेगा। जैसे मैं किसी नजदीकीसे स्नेह करता हूँ तो दूसरा नजदीकी सोचेगा—'यह तो अमुकसे ही स्नेह करता है, मुझसे उस तरहका स्नेह नहीं करता। ऐसा सोचनेवाला व्यक्ति प्रायः द्वेषके कुचक्रमें आने लगता है। इसी तरह और भी बहुत-सी बातें हैं जो कि वैसे तो साधारण-सी लगती हैं, परंतु सोचनेवालेके हृदयमें बिलगावकी भावनाको भड़काती रहती हैं और वह बिलगाव एकमें पनपा हुआ उसके नजदीकियोंको उकसाता हुआ कइयोंमें घुस जाता है, जो कलहका कारण बन जाता है और यही कलह पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, मित्र-बन्धु और सगे-सम्बन्धियोंका आपसमें झगड़ा कराकर एक दूसरेका शत्रु बना देता है। तब यह अलगाव 'द्वेष'का रूप धारण कर लेता है। इसलिये यदि आप सोचें तो पता चलेगा कि सारे झगड़ेकी तथा मनमें अशान्ति उत्पन्न करनेकी जड़ यही है। आपका संसारमें एककी तरफ विशेष राग होगा तो दूसरेकी ओर वैसा ही द्वेष होना भी स्वाभाविक है। मान-बड़ाईकी कामने अच्छे-अच्छे धुरंधर विद्वानों, पण्डितों, बुद्धिजीवियों, धनवानों और संत-महात्माओंतकको रागजालमें फाँस रक्खा है। पूर्ण विकसित मस्तिष्कोंमें भी घुसा हुआ यह राग दूसरोंकी ओर असमानताकी दृष्टिसे देखता है, यानी मान-बड़ाईकी प्रबल इच्छाके रोगसे ग्रस्त बुद्धिमान् मनुष्य अपने-आपको एक शिखरपर चढ़ा हुआ मानता है और दूसरोंको अपनेसे अल्पबुद्धि समझता

हुआ उन्हें समानताकी नजरसे न देखकर हीन-भावनासे देखने लग जाता है। यदि इसी तरहके दो समर्थ आदमी अपनी बुद्धिमत्ता, ईश्वरता, शूरवीरता, दानवीरता इत्यादिका प्रदर्शन करने लग जाते हैं तो एक दूसरेसे द्वेष करने लगते हैं और इन दो सामर्थ्यवानोंके द्वेष आपसकी दो जमातोंमें बदलकर कलहका रूप धारण करके एक दूसरेको नीचा दिखानेकी चेष्टामें साम्प्रदायिक, सामाजिक तथा जातीय दंगे पैदा कर देते हैं।

अतः यह सिद्ध हुआ कि राग-द्वेष ही सारी बुराइयोंकी जड़ है। इसकी जड़ें ज्यादा बिखरी हुई रहनेसे ही मन अशान्त होता है। असमानता बढ़ती है। इसलिये यदि शान्तिकी चाहना हो, संसारमें रहकर संसारको जीतना हो तो इस द्वन्द्वका दमन करना चाहिये। जैसा कि पहले बताया जा चुका है—राग-द्वेष एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। आप जितना रागके उद्वेगसे छुटकारा पायँगे, द्वेष अपने-आप कम होता चला जायगा। राग-द्वेषके निवारणका उपाय गुरु नानकने बहुत ही सुन्दर बताया है। वे कहते हैं कि—

स्तुति निन्दा दोउ परिहरि, हरि की रति उर आनो।
जन नानक सब में है पूर्ण, एक पुरुष भगवानो॥

सारांश यह कि स्तुति और निन्दा इन दोनोंको त्यागकर प्रभुमय भावना रखनी चाहिये। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य चाहे अल्पबुद्धि हो या विशेषबुद्धि, सबमें उसी एक नारायणकी ज्योति जल रही है। यदि आप रूपवान् हैं तो कुरूपता भी प्रभुकी ही देन है। दोनों एक ही शिल्पकारकी शिल्प-मूर्ति हैं। यदि आप धनवान् हैं तो निर्धनके भी दोनों नेत्रोंमें उस भगवान्की ही चमक है। उसकी भी झोली भरना आपका कर्तव्य है। यदि आप समर्थ, समझदार और बलवान् हैं तो अपनी इस दुनियामें असमर्थ, मूर्ख और निर्बलोंका सहायक बनाकर ही उस परमात्माने आपको भेजा है। ऐसी समभावना जिस मनुष्यमें निरन्तर बनी रहती है, उसीका जीवन सार्थक है, उसे ही मनकी शान्ति मिल सकती है। इसीको भजन समझना चाहिये और इसी तरहके द्वंद्वको समाप्त करनेकी जहाँ चर्चा चलती हो, उसे ही सत्सङ्ग और उपदेश कहना चाहिये तथा यही सब धर्मोंका निचोड़ है।

सुन्दर, असुन्दर और प्यार

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

जो सुन्दर है, उसके प्रति प्यार सराहनाके रूपमें उमड़ता है।

जो असुन्दर है, उसके प्रति करुणाके रूपमें।

और जो न सुन्दर है, न असुन्दर—दोनोंसे ही अतीत है। उसके प्रति सहज, किसी भी रूपावरणसे उन्मुक्त रहकर। बस, चिरन्तन अपनत्व एवं नित्यावच्छिन्न अभिन्नत्व और उसके चिर रसमय दिव्य प्रेमानन्दकी अनुभूति कराते हुए, अनन्त प्रेम-पियूषराशिमें नित्य-निरन्तर निमग्नताकी ओर।

क्योंकि ?

जहाँ प्रेम है वहीं अभिन्नता है। वहीं अद्वैत द्वैत और द्वैत अद्वैत होकर एकरस—एकाकार हो जाता है अपने अस्तित्वको सर्वथा मिटाकर।

'डूबा प्रेम-सिन्धु का कोई हमने नहीं उछलते देखा।'

चिन्तन-सार

नम्रताको कोई नहीं मार सकता, कपासकी रुई तलवारसे नहीं कटती । —सहजोबाई

जो दूसरेके अवगुणकी चर्चा करता है, वह अपना अवगुण प्रकट करता है । —महात्मा बुद्ध

जो ज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं, पर जिनके हृदयमें दया नहीं, वे जरूर नरकमें जायँगे ।

—संत कबीर

प्रत्येक मनुष्य अपने मतको सच्चा और अपने बच्चेको सुन्दर समझता है, परन्तु इससे दूसरेके मत या पराये बच्चेको बुरा नहीं कहना चाहिये ।

—सादी

काम, क्रोध, मद, लोभकी खान जबतक मनमें है, तबतक पण्डित और मूर्खमें क्या भेद है ?—दोनों एक समान ही हैं । —तुलसीदासजी

जिसके मनमें भगवान्‌के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे संसारका और कोई-सा भी सुख अच्छा नहीं लगता । जो एक बार बढ़िया मिश्रीका स्वाद पा चुका, वह क्या कभी राब खाना चाहेगा ?

—रामकृष्ण परमहंस

मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मोक्ष ही चाहता हूँ । मैं दुःखपीड़ित प्राणियोंके दुःखका नाश चाहता हूँ । —राजा शिवि

सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वोंमें फँसे हुए जीवोंमें जो मनुष्य हर्ष-शोक-रहित होकर विचरण करता है, वही तृप्त है । —देवर्षि नारद

नम्रताके तीन लक्षण हैं । (१) कड़वी बातका मीठा जवाब देना, (२) क्रोधमें भड़कनेपर चुप रहना और (३) दण्डके भागीको दण्ड देते समय चित्त कोमल रखना । —बुजरचे हर

जो मनुष्य आत्मनिरीक्षण न करके अपनेको सदा निर्दोष मानता है और दोषोंकी ओर देखता ही नहीं, वह अहंकारी ही बना रहता है ।

—हाफिज खुरासानी

स्वर्ग तुम्हारे भीतर है, थोड़ा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर तो देखो । —स्वामी रामतीर्थ

जिसका अन्तःकरण कामनाओंसे भरा रहता है, उसमें पाँच बातें नहीं रह सकतीं—(१) ईश्वरका भय, (२) ईश्वरकी आशा, (३) ईश्वरमें प्रेम (४) ईश्वरसे लज्जा और (५) ईश्वरसे मित्रता । —शरीं

जगत्‌में जितने भाव (जितनी धारणाएँ) हैं, उन सबका जो सूक्ष्मसार—निष्कर्ष है, उसीका नाम ईश्वर है ।

—स्वामी विवेकानन्द

जिनका जीवन-आधार ईश्वर नहीं है, वे मर हैं और जिनका जीवन-आधार ईश्वर है वे अमर हैं ।

—महात्मा ईसा

अगर आप ईश्वरको देखना चाहते हैं तो आपको ईश्वर बन जाना होगा । —बर्नार्ड शा

जिसने प्रेमका नियम नहीं लिया, जिसने कामको नहीं जीता और जिसने नेत्रोंसे अलख पुरुष भगवान्‌के दर्शन नहीं किये, उसका जीवन व्यर्थ है ।

—संत मलूकदासजी

पढ़ो, समझो और करो

(१)

तेरहवीं करनेपर प्रेतयोनिसे मुक्ति

[आँखों देखी एक सत्य घटना]

लगभग दो वर्ष पूर्वकी सच्ची घटना है। उन दिनों मैं किसी आवश्यक कार्यवश अपने पैतृक निवासस्थान माडलगढ़ (जिला भीलवाड़ा) गया था। एक दिन शामके समय मैं मकानके बाहर चबूतरेपर बैठा हुआ था। मेरे पास ही मेरा पड़ोसी रामलाल अहीर बैठा था। उसका पिता मोहनलाल और भाई केशवलाल मकानके अंदर बैठे कोई कार्य कर रहे थे। समय व्यतीत करनेके लिये मैं रामलालसे बातें करने लगा। अचानक रामलालका सिर हिलने लगा और फिर उसके मुँहसे 'हूँ-हूँ-हूँ'की आवाज प्रत्येक श्वासके साथ निकलने लगी, जो क्रमशः तीव्र होती गयी। उसकी ऐसी तीव्र एवं विचित्र आवाज सुनकर उसके पिता और भाई बाहर दौड़े हुए आये।

उसका पिता बोला—'रामू! यह क्या कर रहा है?'

परंतु रामलालके क्रिया-कलापमें कोई परिवर्तन न हुआ। इतनेमें पड़ोसके कुछ स्त्री-पुरुष भी आवाज सुनकर वहाँ एकत्र हो गये। रामलालकी यह हरकत जब बढ़ने लगी तो चार आदमियोंने रामलालको दोनों ओरसे पकड़ लिया।

परंतु फिर भी वे उसे एक स्थानपर स्थिर करनेमें अपनेको असमर्थ पा रहे थे। रामलालकी आँखें आगके अँगारेकी तरह लाल हो रही थीं। उसकी दृष्टि शून्यमें स्थिर थी और शरीर इस प्रकार हिल रहा था, जैसे शराबी नशेमें झूमता है। उसके मुँहसे बराबर आवाज आ रही थी।

एकत्र भीड़मेंसे किसी समझदार व्यक्तिने कहा—'इसको भाव आ रहा है।' (राजस्थानके गाँवोंमें भाव आनेका अर्थ है, प्रेतात्माका किसीके शरीरमें आना) एक व्यक्तिने साहस बटोरकर रामलालकी ओर देखते हुए पूछा—

'कौन हो तुम?'

'मैं अम्बालाल हूँ।' रामलालके मुहँसे आवाज आयी। उपस्थित जनसमूह स्तम्भित रह गया। क्योंकि जिस अम्बालालका नाम उसने उच्चारण किया था—उसकी मृत्यु तबसे लगभग ८-१० वर्ष पूर्व हो गयी थी।

वह रामलाल अहीरका ताऊ अर्थात् मोहनलालका बड़ा भाई था। वह निःसंतान था। किसी असाध्य रोगके कारण उसकी मृत्यु हो गयी थी। उसने अपनी समस्त चल-अचल सम्पत्ति अपने छोटे भाई मोहनलालके नाम कर दी थी।

रामलालके शरीरमें ताऊकी आत्माको बोलते सुना तो केशवलालने उसके पैर छू लिये।

अम्बालालकी प्रेतात्माने उसे सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। 'हम कैसे विश्वास करें कि आप अम्बालाल ही हैं?' एक व्यक्तिने प्रेतात्माकी परीक्षा लेनी चाही। इसपर उसने घरके सम्बन्धमें कुछ ऐसी बातें बतायीं, जिन्हें सुनकर सभी उपस्थित व्यक्तियोंको विश्वास करना पड़ा। घरके एक व्यक्तिने उससे पूछा—'अब आप क्या चाहते हैं?'

'मैं प्रेतयोनिसे मुक्ति चाहता हूँ।' प्रेतात्माने उत्तर दिया।

इसपर उसके भाई मोहनलालने कहा—'भैया, जैसा भी बन पड़ा, हमने तुम्हारा श्राद्ध-कर्म किया। अब और मुक्ति कैसी?'

प्रेतात्माने उत्तर दिया—'मुझे प्रेतयोनि मिली है। मेरा श्राद्ध-कर्म, पिण्ड-दान आदि तुम लोगोंने विधिवत् नहीं किया। अब तुम मेरी पुनः तेरहवीं करो। सभी सगे-सम्बन्धियोंको बुलाना।'

तब मोहनलालने कहा—'भाई! आजकल आर्थिक दशा शोचनीय है। घरमें पैसा नहीं है; फिर मैं कैसे तुम्हारी तेरहवीं करूँ?'

इसपर प्रेतात्माने एक स्थानपर गुप्तरूपसे रखी धनराशिकी सूचना दी और आदेश दिया कि उस धन-से तेरहवीं की जाय।

इसके बाद अम्बालालकी आत्मा चली गयी। रामलाल पुनः अपनी सामान्य अवस्थामें आ गया। पश्चात् प्रेतात्माद्वारा निर्दिष्ट स्थानसे धनराशिकी खोज की गयी तो वह यथावत् प्राप्त हो गयी। मोहनलालने शास्त्र-विधि-से तेरहवीं की और ग्रामवासियोंको मृत्यु-भोज दिया। तेरहवींको अम्बालालकी प्रेतात्मा फिर रामलालके शरीरमें आयी और बोली—'मुझे अब प्रेतयोनिसे छुटकारा मिला है! अब मेरा कहीं पुनर्जन्म होगा।' इस प्रकार धन्यवाद देकर प्रेतात्मा चली गयी। रामलालके शरीरमें फिर कभी वह प्रेतात्मा नहीं आयी। आजके युगमें जो नास्तिक एवं भौतिकवादी पुनर्जन्म-प्रेतयोनि आदिपर विश्वास नहीं करते हैं उनके लिये यह घटना स्पष्ट संकेत करती है कि मनुष्यका पुनर्जन्म और प्रेतयोनि सत्य है। किसी व्यक्तिकी मृत्यु होनेपर उसका शास्त्रोक्त श्राद्ध-कर्म, तेरहवीं आदि विधिपूर्वक करना आवश्यक है। अन्यथा उसकी सद्गति नहीं होती और वह प्रेतयोनिको प्राप्त हो सकता है।

—प्रो० श्रीश्याममनोहर व्यास, एम्० एस्-सी०, बी० एड्०, आर० ई० एस्०, साहित्यालंकार

(२)

'दुखमें सुमिरन सब करें, सुखमें करै न कोय'

बात सन् १९६५की है। मैं किसी कार्यवश इलाहाबाद गया था। वहाँ जानेपर मनमें आया कि क्यों न सङ्गममें स्नान कर लिया जाय। अतः मैं गङ्गाकी ओर चल दिया। मैं अकेला ही था। अक्टूबरका महीना था। सङ्गमतक जानेके लिये कुछ लोग एक नावपर जा रहे थे तो मैं भी उसी नावपर चढ़कर सङ्गमतक चला गया। नावमें अधिकतर गाँवके ही लोग थे। उन्हींमें दो सज्जन व्यक्ति इलाहाबादके भी थे। मेरा सङ्गम-स्नान करनेका यह पहला ही अवसर था। अतः मैंने सङ्गमपर पहुँचकर पहले गङ्गामें स्नान किया और फिर बादमें सङ्गम (त्रिवेणी)में स्नान किया। स्नानादि करते हुए मुझे कुछ देर हो गयी तबतक मेरे साथके अन्य लोग नावमें चढ़ चुके थे। नाव किनारेकी तरफ चल दी। मुझे इस विषयमें कुछ पता ही न था। स्नानसे निवृत्त होकर जब मैं लौटा तो मैंने पाया कि मेरी नाव ही गायब है। मैं परेशान होकर नावको इधर-उधर देखने लगा, लेकिन निरर्थक—सब व्यर्थ। कुछ देरतक प्रयासपूर्वक देखते रहनेपर मुझे दूर जाती हुई एक नौका दिखलायी दी जो कि इस समयतक काफी दूर निकल गयी थी। अब काटो तो मेरे देहमें खून नहीं। मेरा सब सामान उसी नावमें रह गया था। बदलनेके लिये एक जोड़ी कपड़े भी मेरे पास न थे। मैं रुआसा-सा, किंकर्तव्य-विमूढ़ हो, गमछा लपेटे ही एक स्थानपर बैठ गया। फिर थोड़ी ही देरमें मेरे मस्तिष्कमें अनेक प्रकारके विचार उठने लगे। परदेशका मामला था। किसीसे कोई जान-पहचान भी न थी। अतः अब मेरे लिये भगवान्‌के सिवाय कोई सहारा न था।

मैंने अब सब प्रकारसे हताश होकर भगवती गङ्गाका स्मरण किया और भगवान्‌से इस आसन्न संकटसे त्राण पानेकी याचना (प्रार्थना) भाव-विह्वल कण्ठ-स्वरसे करने लगा। मैं उन अकारण करुणाकर भगवान्‌की,

अश्रुपूरित नेत्रों तथा करुणाविगलित वाणीसे नाना प्रकार स्तुति-प्रार्थना कर ही रहा था कि तभी एक नाव इस तटकी ओर आती मुझे दिखायी दी। जब नाव तटके समीप आ गयी तो मैं उसपर कूद कर बैठ गया। मेरी इस हरकतके लिये नाविकने मुझे काफी डाटा-फटकारा भी, लेकिन मैंनें उसकी मिन्नत की कि भाई! मेरा सब सामान खो गया है, दूसरी नावमें चला गया है; अतः मैं अब शीघ्रातिशीघ्र उस पार जाना चाहता हूँ। नाविक चुप हो गया। मैं उस नावमें बैठे हुए उद्विग्न-मन, अशान्त-चित्त, रुआँसा-सा अपनेको अपमानित-जैसा अनुभव कर रहा था; किंतु निरन्तर भगवान्‌को भी याद करता ही जा रहा था। थोड़ी ही दूर जानेके बाद मैं देखता क्या हूँ कि एक नाव द्रुतगतिसे हमारी तरफ चली आ रही है। उस नावमें वही नाविक और इलाहाबादके वे ही दोनों सज्जन मेरा सामान साथ लिये हुए निश्चित रूपसे मुझे ही खोजनेके लिये उधर ही बढ़े चले आ रहे हैं, यह बात उस नावके पास आ जानेपर स्पष्ट समझमें आ गयी। उन लोगोंपर मेरी दृष्टि पड़ते ही मैं उनके आभारसे अपनेको दबा-सा अनुभव करने लगा। उस समय मुझे इतनी प्रसन्नता हुई कि मैं उसका वर्णन भी इस समय नहीं कर सकता। हर्षातिरेकसे मेरे मनमें तुरंत विचार आया कि नावपरसे कूदकर तैरते हुए ही उन लोगोंके पास पहुँच जाऊँ। इसी बीच हमारी नाववाले नाविकने जो एक सज्जन व्यक्ति था, दोनों नावको इकट्ठा किया और मैं तुरंत अपनी पहलीवाली नावपर चढ़ गया।

एक विचित्र प्रकारके भावावेगसे उस समय मेरा शरीर थरथर काँप रहा था। भगवान्‌की लीलाकृपाका इस रूपमें प्रत्यक्ष अनुभव करके मेरी वाणी कुण्ठित थी—मैं कुछ भी बोलनेमें असमर्थ-सा हो रहा था। उन दोनों भद्र पुरुषोंने मुझे बहुत प्रकारसे सान्त्वना दी तथा मेरा सामान मुझे सँभला दिया। प्रकटमें मैंने उन दोनों सज्जनोंका किसी प्रकार टूटे-फूटे शब्दोंमें ही आभार प्रदर्शित किया। मैं जानता हूँ कि भगवान्‌ने ही मेरी दीन दशापर दयार्द्र होकर उन श्रेष्ठ पुरुषोंको प्रेरित करके मेरे खोये हुए सामानको मेरे पास भेजा था। सत्य है, भगवान्‌को कोई भी कैसा भी प्राणी जब भी कभी पूर्णदैन्य-भावसे आतुर होकर पुकारता है तो वे उसके अन्तःस्थलसे निकली हुई करुण-पुकार अवश्य ही सुनते हैं। आवश्यकता है भगवान् या ईश्वरपर सच्चे हृदयसे श्रद्धा—विश्वास दृढ़ करनेकी, नास्तिकताके इस युगमें सच्ची आस्तिकताकी।

विपन्न परिस्थिति तथा संकट-कालके अतिरिक्त हम अपने जीवनके आनन्ददायी क्षणोंमें भी भगवान्‌के अनुगृहीत हों, उनका सतत स्मरण करनेका अभ्यास (नियम) बना लें तो फिर निश्चय ही हमारा जीवन दुःखमुक्त होकर सदा-सर्वदा सुख-शान्तिका उद्गम बन सकता है। फिर हमें दुःख-दैन्य, नैराश्य कभी सता नहीं सकते। एक बार ऐसा करके हम देखें तो सही, भगवान्‌के सन्मुख होना (शरण लेना) हम सीखें तो सही। —श्रीरामलालजी दिवाकर

(३)

भलो भलाइहि पै लहइ

२२ मई १९७७को मैं रेलद्वारा हरिद्वारसे लौट रहा था। दिल्लीमें कहीं भूलसे मेरा हैंडबैग, जिसमें कुछ पैसे, महत्त्वपूर्ण कागजात, सारे घरकी चाबियाँ, कुछ दैनिक उपयोगी वस्तुएँ एवं गङ्गा माताका प्रसाद रखा था, छूट गया।

प्रभुकृपासे यह बैग श्रीरामगोपाल आनन्द, (कर्मचारी सफदरजंग अस्पताल, नई दिल्ली—१६)को मिल गया।

उन्होंने दिल्ली रेलवे स्टेशनपर मेरी बहुत खोज की, पर मैं तो निराश होकर परिवारसहित झाँसी चला आया था।

बैगमें मेरा रेलवेका परिचय-पत्र भी रखा था। दो दिन उपरान्त ही श्रीआनन्दका पत्र मुझे प्राप्त हुआ। ऐसे व्यक्तिसे मिलनेकी आकाङ्क्षा जाग्रत् हुई और मैं श्रीआनन्दसे, जिन्हें मैंने जीवनमें पहले कभी नहीं देखा था, मिलनेके लिये दिल्ली पहुँचा, उनसे मिला।

श्रीआनन्दने न केवल मेरा बैग ही लौटाया वरन् जो स्नेहपूर्ण एवं कर्तव्यपरायणताका व्यवहार किया वह आजकी दुनियामें आधुनिक बड़े नगरोंमें रहनेवाले निकटतम सम्बन्धी भी नहीं करते। सचमुच उनका व्यवहार तथा कर्तव्य प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

श्रीआनन्द माता वैष्णोदेवी (वैष्णवीदेवी)के उपासक हैं। उनसे परिचय प्राप्त करके यही भावना जाग्रत् हुई है कि भारतभूमिमें अब भी ऐसे लोग हैं, जो दूसरेके धनको तृणवत् समझते हैं तथा दूसरोंकी भलाई करनेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं। यदि जनसमुदायमें ऐसी सद्भावना जाग्रत् हो जाय तो यह दुःखद विश्व सुखद स्वर्गमें परिवर्तित हो जाय।

धन्य है माता गङ्गाकी कृपा कि दिल्ली-जैसे व्यस्त महानगरमें खोया हुआ मेरा बैग मुझे पुनः (बिना मेरे विशेष प्रयास किये ही) स्वतः प्राप्त हो गया और धन्य हैं माता वैष्णोदेवीके उपासक, वे हमारे आनन्द भाई, जो दूसरोंकी भलाईमें इस प्रकार तत्पर रहते हैं। —श्रीइन्द्रकुमारजी दुबे, झाँसी

(४)

अद्भुत राम-नामके अङ्क

दिनाङ्क १-१२-७६को दिनके ठीक सवा तीन बजे मैं सपरिवार इन्दौरसे बसद्वारा नीमचके लिये रवाना हुआ। गाड़ी जैसे ही इन्दौर-बस-स्टैण्डसे रवाना हुई, सेवकने निम्न दोहेका मनमें मनन किया—

राम नामको सुमिर कर, जो कछु कीजे काज।
सदा सुमंगल होत है, कृपा करैं रघुराज॥

बस अपने निर्धारित समयपर बदनावर होती हुई बिलपाँकके करीब एक फर्लांग आगे पहुँची कि गाड़ीका अगला टायर तेज आवाजके साथ फट गया, एवं बसकी गति सर्वथा अनियन्त्रित हो गयी। टायर फटनेकी जोरकी आवाज तथा गाड़ीके उलटनेकी आशङ्कासे मैं स्वयं तथा लगभग साठ अन्य सहयात्री एकदम घबड़ा गये। सेवकने ऊँची आवाजमें श्रीराम-नामका रट लगाना शुरू कर दिया। वाहनने एकके बाद दूसरा पलटा खाया ही था कि हरिकृपासे गाड़ीको एक खजूरके पेड़ने रोक लगा दी। तीसरे पलटेके बाद बस सहसा रुक गयी। किसीको भी चोट नहीं लगी। केवल चार महिलाओंको मामूली-सी खरोंचें लगी थीं।

रोते-चिल्लाते सभी यात्रियोंने प्रभुको धन्यवाद दिया। सभी अपने-आपको तथा दूसरोंको सम्हालने लगे। सेवकने पाया कि न तो मेरे स्वयं, न किसी भी बच्चेको और न ही मेरी पत्नीको तथा न ही किसी अन्य सहयात्री बन्धुको ही कोई विशेष चोट पहुँची है। सभी सकुशल दूसरी रिलीफ-बसद्वारा अपने-अपने गन्तव्य-को पहुँचाये गये। यदि भगवान् श्रीरामने कृपा नहीं की होती तो प्रायः हम सभी लोग बीभत्स मृत्युका ही वरण करते। यह सब राम-नामका अद्भुत प्रताप है।

'धनि धनि राम नामके अंक',
जय जय श्रीराम॥

—श्रीशैतानमल परमार, नीमच नगर

(५)

सबके रक्षक भगवान्

घटना गत २५ मई १९७७की है। गोरखपुर तहसीलके लहसड़ीग्रामनिवासी श्रीवसन्त त्रिपाठीका

हलवाहा खेत जोतनेके लिये प्रातःकाल खेतमें गया। खेतपर उस दिनका कार्य पूरा हो जानेपर हलवाहेने हल बंद कर दिया और बैलोंको छोड़ दिया। उनमेंसे एक बैल त्रिपाठीजीके घर न जाकर पासके दूसरे गाँवकी ओर भाग गया। सायंकाल तेज आँधी आयी। आँधी आनेके समय बैल निकटवर्ती डुहिया ग्रामके दलसिंगार यादवकी फूसकी झोपड़ीमें घुस गया। थोड़े समय बाद ही आँधीके प्रचण्ड झोंकोंने झोपड़ीके स्तम्भोंको गिरा दिया। फलस्वरूप पूरी झोपड़ी गिर गयी और बैल उसीके नीचे दब गया। बाहर निकलनेका कोई रास्ता न रहा। इस समय वहाँ कोई भी ऐसा व्यक्ति न था, जो उस बैलको इस आकस्मिक संकटसे बचानेमें कुछ सहायता करता।

बैल उसी दशामें कई दिनोंतक उस झोपड़ीमें दबा पड़ा रहा। झोपड़ीके नीचे बैलके दबनेकी बात कोई जानता ही न था। बिना दाने-पानी और गर्मीकी प्रबलतासे बैल मरणासन्न हो चला था। एकमात्र भगवान्‌का ही भरोसा था।

घटनाके सातवें दिन झोपड़ीके मालिकको अपनी गिरी हुई झोपड़ी ठीक करनेकी सूझी तो झोपड़ीके निकट जानेपर उसे गिरी हुई झोपड़ीमेंसे घुरघुराहट-जैसी धीमी आवाज सुनायी पड़ी। झोपड़ीके फूसको थोड़ा खिसकाने और ध्यानसे देखनेपर उसके अंदर बैल दिखलायी पड़ा। अन्य लोगोंकी सहायतासे बैलको बाहर निकाला गया। उसकी हालत अत्यन्त-गम्भीर हो रही थी। किसी प्रकार श्वास ही बाकी थे। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतने दिनोंतक भूखा-प्यासा तथा झोपड़ीमें दबा हुआ रहकर यह प्राणी किस प्रकार जीवित रहा ? इस घटनाकी चर्चा दूर-दूरके गाँवोंतक फैल गयी। सभीने बैलकी प्राणरक्षामें भगवान्‌की कृपाको ही हेतु माना तथा मुक्तकण्ठसे भगवान्‌को धन्यवाद दिया।

बैलको झोपड़ीसे निकालकर लोग बड़े यत्नपूर्वक उसके मालिकके घर पहुँचा गये। वह अत्यन्त निर्बल हो गया था। श्रीत्रिपाठीजी अपना बैल पाकर बड़े ही प्रसन्न हुए, साथ ही बैलकी दशा देखकर करुणासे भर गये। उन्होंने खोये हुए बैलको इस दशामें भी पाकर भगवान्‌को बहुत धन्यवाद दिया। त्रिपाठीजीने ग्राम-वासियोंकी राय और सहायतासे बैलकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की, जिससे वह धीरे-धीरे ठीक हो गया। भगवान्‌की कृपासे वह बैल आज भी जीवित है। भगवान्‌ने बैलकी प्राण-रक्षा करके इस दृष्टान्तसे हम सबके इस विश्वासको और भी पुष्ट कर दिया कि 'सबके रक्षक भगवान् ही हैं,' जहाँ मनुष्य या अन्य प्राणी सर्वथा असहाय हो जाते हैं, वहाँ भगवान् ही सहायक होते हैं।

सच है—

'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्।'

(हितोपदेश २। १८)

—श्रीवासुदेवजी त्रिपाठी, डाँगीपार, गोरखपुर

नाम-प्रेरणा

बोलो भैया गोविन्द कृष्ण हरि।
माल दाम कछु नहीं बैठत है, छूटत नहिं गठरी॥
यह काया कागदकी पुतरी छिनमें जात जरी।
जा मुख 'सूर' प्रभु नाँहिं उचरत ता मुख धूर परी॥

(श्रीसूरदास)

वही धन्य जीवन बड़भाग !

जिसको पतित समझकर जगमें करते, सब जिसका अपमान।
उसे उठाकर गले लगाते, परम स्नेहसे खुद भगवान॥
जो दुतकारा जाता सबसे, जिसको सब देते धिक्कार।
प्रभु उसको दुलराने लगते, सुनकर उसकी करुण पुकार॥
जगमें जो पद-दलित, उपेक्षित, विस्मृत, अति नगण्य, बिन मोद।
सिर रखकर वह सुखसे सोता, प्रियतम प्रभुकी सुखमय गोद॥

जिसको कोई नहीं मानता, कोई नहीं पूछता बात।
अखिल विश्वपति दीनबन्धु हरि, खुद उसके सहलाते गात॥
जिसको 'मेरा' कहते जगमें, जन-जन करता लज्जा-बोध।
उससे ममता करते खुद हरि, उर प्रवेश कर करते बोध॥
जिसके मनकी सुननेवाला, नहीं जगतमें रहता एक।
उसकी सुनते नहीं ऊबते, युग-युग रखते अपनी टेक॥

जिसको कहीं न आदर मिलता, कहीं नहीं मिलता कुछ प्यार।
पाता वही परम प्रियतमका, सीमाविरहित प्यार-दुलार॥
जिसको मूर्ख मानकर जगमें, करते सब जिसका उपहास।
उसे स्वयं अपनाकर प्रभु, नित करते उससे हास-विलास॥
जिसको दीन-दरिद्र जानकर, करते घृणा जगत्‌के लोग।
प्रेमी उसे बना प्रियतम नित देते दुर्लभ निज संयोग॥

नहीं देखते देश-जाति-कुल, नहीं देखते धन-जन-मान।
नहीं देखते पाप-कलुष कुछ, नहीं देखते विद्या-ज्ञान॥
नहीं देखते वर्णाश्रम-वय बुद्धि, देखते नहीं विचार।
नहीं देखते नारी या नर, कौन, कहाँ, कैसा आचार॥
सरल हृदयसे जो उनका हो जाता, कर अर्पण तन-मन।
प्रभु निज कृपा अहैतुकसे कर लेते उसे तुरत निज जन॥

हर लेते उसके तुरंत सब पाप-कलुष, सारे संताप।
उसे बना लेते अपना वे, उसके खुद बन जाते आप॥
जगके प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिकी सब आशाका कर त्याग।
जो प्रियतम प्रभुका बन जाता,' वही धन्य जीवन, बड़भाग !!
वह प्रभुका, प्रभु उसके, उसका होता प्रियतमपर अधिकार।
सुर-मुनि सभी हृदयसे करते उसके पद-रजका सत्कार॥

—श्रीभाईजी

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३

ब्रह्माजीद्वारा भगवान् श्रीरामकी स्तुति

भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः । एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव । लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः । अजितः खड्गधृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः ॥
इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वं पद्मनाभो रणान्तकृत् । शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः ॥
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम् । तदिदं नस्त्वया कार्यं कृतं धर्मभृतां वर ॥
निहतो रावणो राम प्रहृष्टो दिवमाक्रम । अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः ॥
अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः । अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥
ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम् । प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च ॥

(श्रीमद्वाल्मीकीयरामा०, युद्धकाण्ड ११७ । १३—१५, १७–२८–३१)

(ब्रह्माजी भगवान् श्रीरामके प्रति बोले—) 'आप चक्र धारण करनेवाले सर्वसमर्थ श्रीमान् भगवान् नारायण देव हैं, एक दाढ़वाले पृथ्वीधारी वराह हैं तथा देवताओंके भूत एवं भावी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं। रघुनन्दन ! आप अविनाशी परब्रह्म हैं । सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें सत्यरूपसे विद्यमान हैं । आप ही लोकोंके परम धर्म हैं । आप ही विष्वक्सेन तथा चार भुजाधारी श्रीहरि हैं । आप ही शार्ङ्गधन्वा, हृषीकेश, अन्तर्यामी पुरुष और पुरुषोत्तम हैं । आप किसीसे पराजित नहीं होते । आप नन्दक नाम खड्ग धारण करनेवाले विष्णु एवं महाबली कृष्ण हैं । इन्द्रको भी उत्पन्न करनेवाले महेन्द्र और युद्धका अन्त करनेवाले शान्तस्वरूप पद्मनाभ भी आप ही हैं । दिव्य महर्षिगण आपको शरणदाता तथा शरणागतवत्सल कहते हैं । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ रघुवीर ! आपने रावणका वध करनेके लिये ही इस लोकमें मनुष्यके शरीरमें प्रवेश किया था । हमलोगोंका कार्य आपने सम्पन्न कर दिया । श्रीराम ! आपके द्वारा रावण मारा गया । अब आप प्रसन्नतापूर्वक अपने दिव्य धाममें पधारिये । देव ! आपका बल अमोघ है । आपके पराक्रम भी व्यर्थ होनेवाले नहीं हैं । श्रीराम ! आपका दर्शन अमोघ है । आपका स्तवन भी अमोघ है तथा आपमें भक्ति रखनेवाले मनुष्य भी इस भूमण्डलमें अमोघ ही होंगे । आप पुराणपुरुषोत्तम हैं, दिव्यरूपधारी परमात्मा हैं । जो लोग आपमें भक्ति रखेंगे, वे इस लोक और परलोकमें अपने सभी मनोरथ प्राप्त कर लेंगे ।'